MATS UNIVERSITY

NAAC GRADE A+ ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR DISTANCE & ONLINE EDUCATION

हिन्दी साहित्य का इतिहास

मास्टर ऑफ़ आर्ट्स – हिन्दी

प्रधम सेमेस्टर

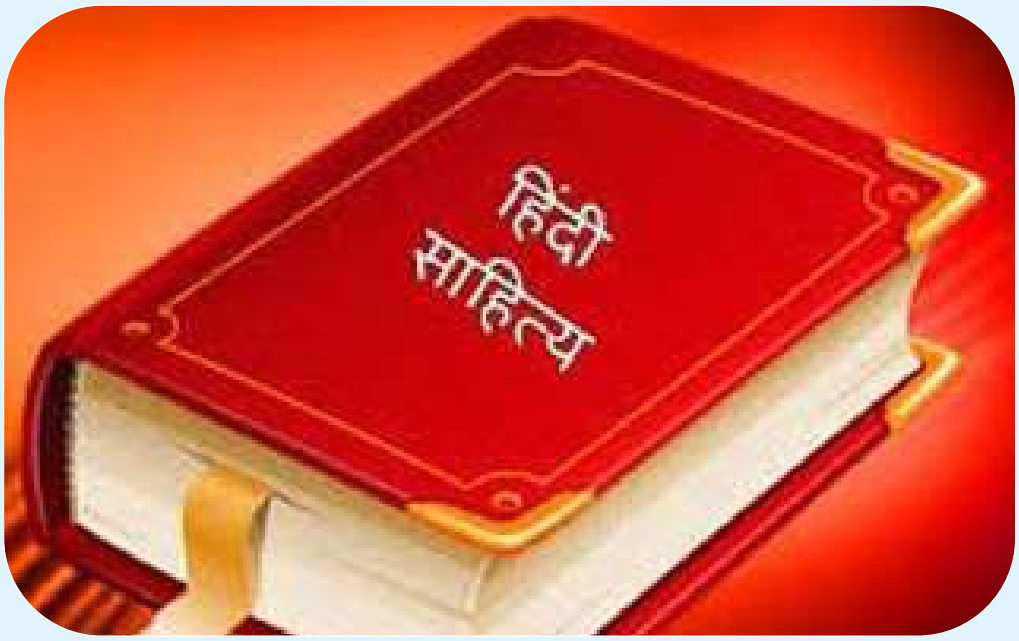

SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

1. Prof. (Dr.) Reshma Ansari, HOD, School of Arts and Humanities, Hindi Department, MATS University, Raipur, Chhattisgarh.
2. Dr. Sudhir Sharma, Subject Expert, HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai, Chhattisgarh.
3. Dr. Kamlesh Gogia, Associate Professor, School of Arts and Humanities, Hindi Department, MATS University, Raipur, Chhattisgarh.
4. Dr. Sunita Shashikant Tiwari, Associate Professor, School of Arts and Humanities, Hindi Department, MATS University, Raipur, Chhattisgarh.
5. Dr. Rajesh Kumar Dubey, Subject Expert, principal Shahid Rajiv Pdndey Govt. College, Bhatagouan, Raipur Chhattisgarh.

COURSE COORDINATOR

Prof. (Dr.) Reshma Ansari, HOD, School of Arts and Humanities, Hindi Department, MATS University, Raipur, Chhattisgarh.

COURSE /BLOCK PREPARATION

Dr. Sunita Shashikant Tiwari

Associate Professor, School
of Arts and Humanities,
Hindi Department, MATS
University, Raipur,
Chhattisgarh.

March, 2025

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced, transmitted or utilized or stored in any form by mimeograph or any other means without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed &published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer: The publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from the contents of this course material, this completely depends on the AUTHOR'S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

Acknowledgement

The material (pictures and passages) we have used is purely for educational purposes. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Should any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future editions of thisbook.

हिन्दी साहित्य का इतिहास

MODULE NAME		PAGE NUMBER
	मॉड्यूल 1 **हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का इतिहास**	
इकाई: 1.1	हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन परंपरा	1-6
इकाई: 1.2	काल विभाजन	7-16
इकाई: 1.3	आदिकालीन साहित्यिक परंपराएँ	17-21
इकाई: 1.4	प्रमुख रासो काव्य और उनकी प्रमाणिकता	22-27
	मॉड्यूल 2 **आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सामान्य विशेषताएँ**	28-30
इकाई: 2.1	अमीर खुसरो की हिन्दी कविता	31-42
इकाई: 2.2	विद्यापति और उनकी पदावली	43-51
	मॉड्यूल 3 **भक्ति आंदोलन का परिचय**	
इकाई: 3.1	भक्तिकाल की सामान्य विशेषताएँ	52-60
इकाई: 3.2	भक्ति आंदोलन के उदय के कारण	61-67
इकाई: 3.3	प्रमुख भक्ति धाराएँ	68-74
इकाई: 3.4	निर्गुण और सगुण भक्ति	75-88
	मॉड्यूल 4 **भारत में सूफी मत का उदय**	
इकाई: 4.1	सूफी मत का उदय और विकास	89-95
इकाई: 4.2	सूफी मत के सिद्धांत	96-100
इकाई: 4.3	प्रमुख सूफी कवि और काव्य	101-113
इकाई: 4.4	सूफी काव्य की विशेषताएँ	114-148
	मॉड्यूल 5 **दरबारी संस्कृति और रीतिकाल**	
इकाई: 5.1	रीतिकाल के मूल स्रोत	149-155
इकाई: 5.2	प्रमुख रीति कवि और काव्यधाराएँ	156-191
इकाई: 5.3	रीति काव्य की विशेषताएँ	192-203

मॉड्यूल 1

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का इतिहास

संरचना

इकाई: 1.1 हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन परंपरा

इकाई: 1.2 काल विभाजन

इकाई: 1.3 आदिकालीन साहित्यिक परंपराएँ

इकाई: 1.4 प्रमुख रासो काव्य और उनकी प्रमाणिकता

1.0 उद्देश्य:

- साहित्यिक इतिहास लेखन की परंपरा को समझना
- इतिहास लेखन के उद्देश्य और महत्व की जानकारी प्राप्त करना
- हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों का परिचय
- हिंदी साहित्य के मुख्य कालों को समझना
- काल विभाजन के आधार और तर्क जानना
- विभिन्न कालों की विशेषताओं का अध्ययन
- सिद्ध और नाथ साहित्य को समझना
- जैन साहित्य की परंपरा का अध्ययन
- आदिकालीन साहित्य की विविधता जानना
- रासो काव्य परंपरा को समझना
- प्रमुख रासो ग्रंथों का परिचय
- रासो काव्यों की प्रमाणिकता पर विचार

इकाई 1.1: हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन परंपरा

1.1.1 साहित्यिक इतिहास लेखन की परंपरा

साहित्यिक इतिहास लेखन का प्रारंभ भारत में संस्कृत साहित्य से माना जा सकता है, जहाँ पुराणों, रामायण, महाभारत और अनेक ग्रंथों में तत्कालीन साहित्य, संस्कृति और समाज का प्रतिवेदन मिलता है। साहित्यिक इतिहास केवल घटनाओं का विवरण नहीं था, बल्कि इसमें लेखक की दृष्टि, समाज के आदर्श और नैतिक मूल्य भी प्रकट होते थे। जैसे, कालिदास की रचनाओं का अध्ययन हमें तत्कालीन भाषा, संस्कृति और

सौंदर्यबोध का बोध कराता है। हिन्दी साहित्य में साहित्यिक इतिहास लेखन की परंपरा अपेक्षाकृत आधुनिक काल में विकसित हुई। हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन आरंभिक काल में अधिकतर संस्कृत और बृज साहित्य के संदर्भों पर आधारित था। प्रारंभिक आलोचक और लेखक, जैसे जयदेव, सूरदास, और बिहारी, अपने काव्य और भक्ति साहित्य के माध्यम से समाज, भाषा और साहित्य की अवस्था का विवरण करते थे। किन्तु इस समय साहित्यिक इतिहास का उद्देश्य मुख्यतः रचनाकार की प्रतिष्ठा और उनके साहित्यिक योगदान को प्रमाणित करना होता था।

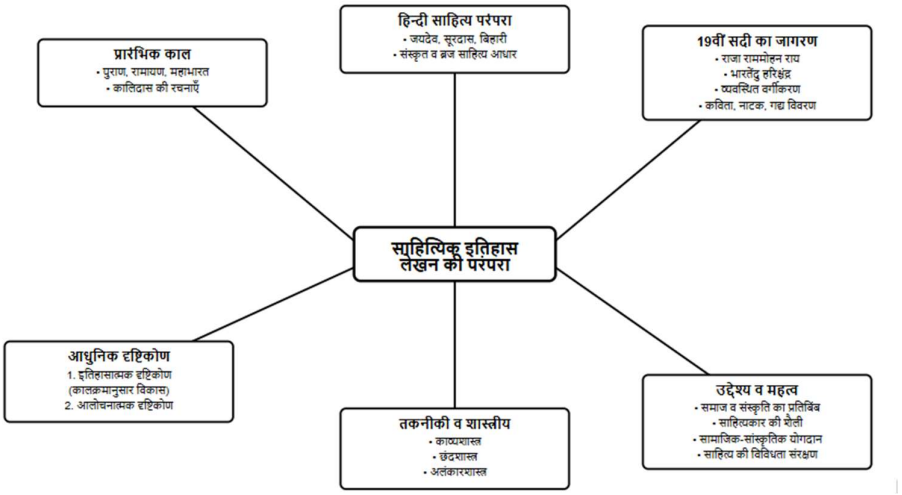

चित्र 1.1: साहित्यिक इतिहास लेखन की परंपरा

19वीं सदी के आरंभ में भारतीय समाज में सामाजिक और राजनीतिक जागरण ने साहित्यिक इतिहास लेखन को नए दृष्टिकोण दिए। राजा राममोहन राय, भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके समकालीनों ने न केवल साहित्यिक कृतियों का संग्रह किया, बल्कि उनका विश्लेषण और वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र के माध्यम से हिंदी साहित्य का इतिहास अधिक व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत हुआ, जहाँ उन्होंने कविता, नाटक और गद्य की प्रवृत्तियों का विवरण किया। आधुनिक हिंदी साहित्य इतिहास लेखन में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। पहली, इतिहासात्मक दृष्टिकोण, जिसमें साहित्य की chronological स्थिति और विकासक्रम को प्रस्तुत किया जाता है। दूसरी, आलोचनात्मक दृष्टिकोण, जिसमें साहित्य का सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक

संदर्भ में विश्लेषण किया जाता है। इन दोनों दृष्टिकोणों ने हिन्दी साहित्य इतिहास को व्यापक और गहन बनाया।

इसके अतिरिक्त, साहित्यिक इतिहास लेखन में तकनीकी और शास्त्रीय विधाओं का समावेश हुआ। उदाहरण के लिए, काव्यशास्त्र, छंदशास्त्र और अलंकारशास्त्र का विश्लेषण इतिहासकारों द्वारा किया गया। यह परंपरा 20वीं सदी में और अधिक विकसित हुई, जहाँ लेखक न केवल काव्य और गद्य का वर्णन करते थे, बल्कि साहित्य के सृजन, प्रवृत्ति और प्रवाह का भी विस्तृत विश्लेषण करते थे। हिन्दी साहित्य में इस परंपरा का उद्देश्य केवल रचनाओं का संग्रह करना नहीं था, बल्कि उनके माध्यम से समाज और संस्कृति का प्रतिबिंब प्रस्तुत करना भी था। साहित्यिक इतिहास लेखन में न केवल साहित्यकार की प्रतिभा और शैली पर ध्यान दिया गया, बल्कि उनके योगदान का सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व भी उजागर किया गया। इस प्रकार, साहित्यिक इतिहास लेखन की परंपरा ने हिंदी साहित्य की समृद्धि और उसकी विविधता को संरक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

1.1.2 हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन का विकास

हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन विभिन्न चरणों में विकसित हुआ है। आरंभिक काल में हिन्दी साहित्य का इतिहास अधिकतर मौखिक परंपराओं और भक्ति साहित्य पर आधारित था। भक्ति आंदोलन के कवि जैसे सूरदास, तुलसीदास, और कबीर ने न केवल धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, बल्कि उनके काव्य में समाज और संस्कृति का भी गहन चित्रण पाया जाता है। 19वीं सदी में हिन्दी साहित्यिक इतिहास लेखन में व्यवस्थित अध्ययन और संग्रह की प्रवृत्ति देखने को मिली। राजा राममोहन राय और भारतेंदु हरिश्चंद्र जैसे व्यक्तियों ने साहित्यिक इतिहास लेखन में आधुनिक दृष्टिकोण अपनाया। भारतेंदु हरिश्चंद्र के लेखन में कविता, गद्य और नाटक की विभिन्न विधाओं का विश्लेषण किया गया। उन्होंने 'कविवचन सुधा' और 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के माध्यम से हिन्दी साहित्य की वर्तमान स्थिति और उसके विकास का उल्लेख किया।

बाल गंगाधर तिलक और उनके समकालीन पत्रकारों ने साहित्यिक इतिहास लेखन में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का समावेश किया। उन्होंने साहित्य के माध्यम से समाज और राष्ट्र

की चेतना को जागृत करने का प्रयास किया।

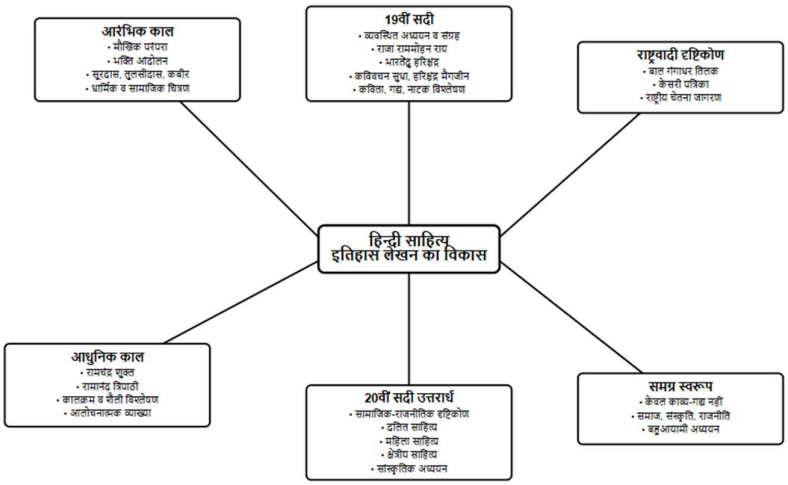

चित्र 1.2: हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन का विकास

'केसरी' और अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने साहित्य और पत्रकारिता को जोड़ते हुए इतिहास लेखन की परंपरा को आधुनिक रूप दिया। आधुनिक काल में हिंदी साहित्यिक इतिहास लेखन में कई प्रमुख विद्वानों का योगदान रहा। रामचंद्र शुक्ल, रामानंद त्रिपाठी, और अनिल कांत जैसे इतिहासकारों ने हिंदी साहित्य को कालक्रम, शैली, और सामाजिक संदर्भ में व्यवस्थित किया। इस समय साहित्यिक इतिहास लेखन का उद्देश्य केवल साहित्य का संग्रह नहीं रहा, बल्कि उसकी आलोचनात्मक व्याख्या और विश्लेषण भी प्रमुख हो गया। इसके अतिरिक्त, 20वीं सदी के उत्तरार्ध में हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी विकसित हुआ। इसमें दलित साहित्य, महिला साहित्य और क्षेत्रीय साहित्य की प्रवृत्तियों का समावेश किया गया। इस प्रकार, हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन अब केवल काव्य और गद्य का वर्णन नहीं, बल्कि साहित्य के माध्यम से समाज, संस्कृति और राजनीति का अध्ययन भी बन गया।

1.1.3 इतिहास लेखन के उद्देश्य

साहित्यिक इतिहास लेखन के अनेक उद्देश्य होते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य साहित्य की प्रवृत्ति और विकास का अध्ययन करना है। इसके माध्यम से किसी भी भाषा या समाज

के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास का पता लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, साहित्यिक इतिहास लेखन का उद्देश्य समाज में साहित्य के महत्व को उजागर करना भी होता है। एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का संरक्षण करना है। इतिहास लेखन के माध्यम से पुरानी रचनाओं, उनके लेखक और उनकी शैली का ज्ञान भविष्य की पीढ़ियों तक पहुंचता है। इससे साहित्यकारों की पहचान, उनके योगदान और उनकी रचनाओं का महत्व स्पष्ट होता है। साहित्यिक इतिहास लेखन का तीसरा उद्देश्य आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। इसमें केवल रचनाओं का संग्रह नहीं किया जाता, बल्कि उनके साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव का विश्लेषण भी किया जाता है। उदाहरण के लिए, तुलसीदास का रामचरितमानस न केवल धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि उस समय के समाज और संस्कृति की भी झलक प्रस्तुत करता है।

इसके अलावा, साहित्यिक इतिहास का उद्देश्य पाठकों और शोधकर्ताओं के लिए अध्ययन सामग्री उपलब्ध कराना भी है। इससे पाठक न केवल साहित्य को समझते हैं, बल्कि उसकी पृष्ठभूमि, शैली और विकासक्रम का गहन अध्ययन भी कर पाते हैं। अंततः, साहित्यिक इतिहास लेखन का उद्देश्य साहित्य और समाज के बीच संबंध को उजागर करना है। यह लेखन दिखाता है कि साहित्य केवल कला नहीं, बल्कि समाज और संस्कृति का प्रतिबिंब है।

1.1.4 साहित्यिक इतिहास का महत्व

साहित्यिक इतिहास का महत्व कई दृष्टियों से अत्यधिक है। प्रथम, यह साहित्य की समयानुसार प्रवृत्ति और विकास को समझने में मदद करता है। किसी भी भाषा या संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करने के लिए साहित्यिक इतिहास एक अमूल्य स्रोत है। दूसरा, साहित्यिक इतिहास सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना को उजागर करता है। उदाहरण के लिए, भक्ति आंदोलन के कवियों के काव्य में समाज की धार्मिक और सामाजिक स्थिति का बोध होता है। इसी प्रकार, स्वतंत्रता संग्राम के समय के साहित्य में राष्ट्रवाद और समाज सुधार की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। तीसरा, साहित्यिक इतिहास लेखक और उनके योगदान को संरक्षित करता है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि किसी भी काल की प्रमुख रचनाएँ और उनके लेखक भूलने नहीं जाते।

इसके माध्यम से भविष्य की पीढ़ियाँ साहित्य के विकास और उसकी विविधता को समझ पाती हैं। चौथा, साहित्यिक इतिहास अध्ययन के लिए मार्गदर्शन प्रदान करता है। शोधकर्ता और विद्यार्थी किसी विशेष काल, शैली या लेखक पर अध्ययन करना चाहते हैं, तो साहित्यिक इतिहास उन्हें आवश्यक संदर्भ और सामग्री उपलब्ध कराता है। अंत में, साहित्यिक इतिहास का महत्व समाज और संस्कृति के अध्ययन में भी है। यह दिखाता है कि साहित्य केवल शब्दों और काव्य का संकलन नहीं, बल्कि समाज, राजनीति, संस्कृति और मूल्य का भी प्रतिबिंब है।

1.1.5 साहित्यिक इतिहास और समाज

साहित्यिक इतिहास और समाज का गहरा संबंध है। किसी भी काल का साहित्य उस समय की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब होता है। उदाहरण के लिए, भक्ति आंदोलन और रैजिस्टेंस साहित्य ने समाज में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास किया। इतिहास लेखन के माध्यम से यह भी स्पष्ट होता है कि साहित्य समाज में परिवर्तन की प्रेरणा देता है। स्वतंत्रता संग्राम के समय के साहित्य ने राष्ट्रीय चेतना को जागृत किया। ऐसे साहित्य ने समाज में नए विचार, सामाजिक सुधार और राजनीतिक जागरूकता का प्रसार किया।

साहित्यिक इतिहास के अध्ययन से समाज की विविधताओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है। क्षेत्रीय साहित्य, महिला साहित्य, दलित साहित्य आदि के अध्ययन से समाज में विभिन्न समूहों की स्थिति, संघर्ष और सांस्कृतिक योगदान का पता चलता है। इस प्रकार, साहित्यिक इतिहास न केवल साहित्य का अध्ययन है, बल्कि समाज, संस्कृति और मूल्य प्रणाली का भी अध्ययन है। यह हमें दिखाता है कि साहित्य और समाज के बीच अंतर्संबंध गहरा और स्थायी होता है। सारांश रूप में, साहित्यिक इतिहास लेखन हिंदी साहित्य की समृद्धि, उसकी प्रवृत्ति और सामाजिक महत्व को उजागर करता है। यह हमें साहित्यकारों, उनकी रचनाओं और समाज के बीच संबंध को समझने में सक्षम बनाता है।

इकाई 1.2: काल विभाजन

1.2.1 हिंदी साहित्य के मुख्य काल: काल विभाजन का आधार

हिंदी साहित्य का काल विभाजन किसी एक सरल सूत्र पर आधारित नहीं है, बल्कि यह साहित्य की **प्रवृत्ति** (रुझान) में आए मूलभूत परिवर्तनों, तत्कालीन **सामाजिक, राजनीतिक, और सांस्कृतिक परिवेश** तथा भाषा के **स्वरूपगत विकास** पर निर्भर करता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन, जो कि सर्वाधिक मान्य और वैज्ञानिक माना जाता है, उसे ही मुख्य आधार बनाया गया है। शुक्ल जी ने संवत् 1050 से लेकर संवत् 1984 तक के विशाल कालखंड को चार स्पष्ट भागों में विभाजित किया: वीरगाथा काल (1050–1375), भक्तिकाल (1375–1700), रीतिकाल (1700–1900), और गद्य काल (1900 से आगे)। इस विभाजन का मुख्य आधार ग्रंथों की प्रसिद्धि और उनकी प्रवृत्ति की प्रधानता रही है। उन्होंने किसी भी काल का नामकरण उसमें लिखी गई एक या दो रचनाओं के आधार पर नहीं किया, बल्कि यह देखा कि उस विशेष अवधि में किस प्रकार के साहित्य की बहुलता रही और उसका जनमानस पर क्या प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए, उन्होंने आदिकाल को 'वीरगाथा काल' नाम दिया क्योंकि उस समय के उपलब्ध साहित्य में वीर रस प्रधान रचनाओं की संख्या अधिक थी, हालाँकि बाद में इस नामकरण पर सिद्ध, नाथ, और जैन साहित्य की उपेक्षा का आरोप लगा और इसे आदिकाल के रूप में अधिक स्वीकार्यता मिली, जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तावित किया।

काल विभाजन की आवश्यकता इसलिए होती है ताकि साहित्य के अध्ययन को एक वैज्ञानिक और क्रमबद्ध ढाँचा प्रदान किया जा सके। प्रत्येक काल अपने भीतर एक विशिष्ट युग-चेतना को समाहित किए होता है, जो उसकी रचनाओं में प्रतिध्वनित होती है। उदाहरणार्थ, जहाँ आदिकाल की चेतना युद्ध, शौर्य, और आश्रयदाताओं की प्रशंसा से प्रेरित थी, वहीं भक्तिकाल की चेतना धार्मिक और आध्यात्मिक थी, जो आंतरिक शुद्धि और ईश्वर के प्रति समर्पण पर केंद्रित थी। रीतिकाल में यह चेतना फिर से दरबारी संस्कृति और श्रृंगारिकता की ओर मुड़ गई, और आधुनिक काल में आकर यह सामाजिक सुधार, राष्ट्रीयता और यथार्थवाद में परिवर्तित हो गई। अन्य महत्वपूर्ण काल विभाजकों में **डॉ. जॉर्ज ग्रियर्सन** ने अपने 'द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान' में 11 अध्यायों के माध्यम से कालखंडों का विभाजन किया,

जो एक सरल वर्गीकरण था लेकिन साहित्य की प्रवृत्तियों को पूर्णतः आधार नहीं बना पाया। **मिश्र बंधुओं** ने अपने 'मिश्र बंधु विनोद' में लगभग 5000 कवियों का इतिहास प्रस्तुत किया और उसे 8 भागों में विभाजित किया, जिसमें 'आरंभिक काल', 'माध्यमिक काल' आदि नाम दिए गए। यह विभाजन अत्यधिक विस्तृत और कहीं-कहीं अव्यावहारिक था।

इन सभी मतों के मंथन के बाद, आज साहित्य जगत में जिस विभाजन को सर्वसम्मति प्राप्त है, वह प्रवृत्तिमूलक है। आदिकाल को वीरगाथा काल न कहकर **आदिकाल** (प्रारंभिक काल) कहा जाता है, जिससे सिद्ध, नाथ, जैन और लौकिक साहित्य, सभी का समावेश हो सके। भक्तिकाल को **स्वर्ण युग** माना जाता है क्योंकि इस दौरान लिखी गई रचनाएँ गुणवत्ता और मात्रा दोनों ही दृष्टियों से अद्वितीय थीं। रीतिकाल अपने नाम के अनुरूप रीति (काव्यशास्त्र) की परंपरा से जुड़ा रहा, और आधुनिक काल को पुनर्जागरण, सुधार और **गद्य के विकास** का काल माना गया। इस प्रकार, हिंदी साहित्य का काल विभाजन वस्तुतः **युग के अंतर्विरोधों, काव्य की आत्मा और जनजीवन के सरोकारों** के आधार पर हुआ है, जिससे हर कालखंड की विशिष्टता स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है और पाठक उस युग के साहित्य को उसके सही संदर्भ में समझ पाता है। यह विभाजन केवल तारीखों का पुलिंदा नहीं, बल्कि साहित्यिक अभिरुचियों के विकास का एक **मानचित्र** है। यह हमें बताता है कि किस प्रकार समय के साथ भाषा बदली, काव्य-रूप बदले, और साहित्य का केंद्रीय विषय **राजदरबार से निकलकर ईश्वर, और फिर समाज व राष्ट्र** तक पहुँचा। हर काल एक दूसरे से जुड़ा हुआ है, लेकिन अपनी **प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति** के कारण अलग पहचान रखता है।

1.2.2 आदिकाल: समय सीमा और विशेषताएँ

हिंदी साहित्य के इतिहास का **आदिकाल** लगभग संवत् 1050 से संवत् 1375 विक्रमी तक के कालखंड को माना जाता है। आचार्य शुक्ल ने इसे **वीरगाथा काल** कहा था, जबकि अन्य विद्वानों ने इसे **सिद्ध-सामंत काल** (राहुल सांकृत्यायन), **चारण काल** (डॉ. जॉर्ज ग्रियर्सन), और **बीजवपन काल** (महावीर प्रसाद द्विवेदी) जैसे नामों से भी पुकारा है। इन अनेक नामों के पीछे कारण यह है कि इस काल के साहित्य में

एकरूपता का अभाव है, और विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ एक साथ विद्यमान थीं। आदिकाल वह संधि-काल है जहाँ **अपभ्रंश** भाषा की अंतिम अवस्था का साहित्य हिंदी के प्रारंभिक रूप **पुरानी हिंदी** में संक्रमण कर रहा था। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता इसका **अस्थिर साहित्यिक परिदृश्य** था, जिसमें दरबारी चारणों की प्रशंसापरक रचनाएँ, धार्मिक उपदेश देने वाले सिद्धों और नाथों की वाणियाँ, तथा जैन मुनियों के शांत रस प्रधान ग्रंथ, सभी शामिल थे।

इस काल की **मुख्य विशेषताएँ** बहुआयामी हैं। पहली और सबसे प्रमुख विशेषता **युद्धों का सजीव चित्रण** है। तत्कालीन राजनीतिक माहौल में छोटे-छोटे सामंतवादी राजा आपस में लगातार लड़ते रहते थे। चारण कवि अपने आश्रयदाताओं के शौर्य और पराक्रम का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते थे, जिससे राजाओं में युद्ध के प्रति उत्साह बना रहे। इन रचनाओं में **वीर रस** की प्रधानता मिलती है, लेकिन साथ ही **श्रृंगार रस** का भी समावेश है, क्योंकि युद्धों का कारण प्रायः सुंदर राजकुमारी या प्रदेश-विजय होता था। **डिंगल-पिंगल भाषा शैली** का प्रयोग भी एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। डिंगल (अपभ्रंश + राजस्थानी) शैली में वीर रस की अभिव्यक्ति होती थी, जबकि पिंगल (अपभ्रंश + ब्रज भाषा) में कोमल भावनाओं और श्रृंगार का चित्रण होता था। इन रचनाओं को मुख्य रूप से **रासो काव्य** कहा गया, जिनमें **पृथ्वीराज रासो** (चंदबरदाई), **बीसलदेव रासो** (नरपति नाल्ह), और **खुमान रासो** (दलपति विजय) प्रमुख हैं। इन ग्रंथों में **ऐतिहासिकता की कमी** पाई जाती है, क्योंकि कवियों ने इतिहास की घटनाओं में कल्पना का मिश्रण करके उन्हें रोचक बना दिया है।

दूसरी प्रमुख विशेषता **धार्मिक साहित्य** की प्रचुरता है। इस काल में **सिद्धों** (बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा) और **नाथों** (गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित योग मार्ग) का साहित्य उपलब्ध है, जिन्होंने **रूढ़ियों और बाह्याडंबरों का विरोध** किया। सिद्धों की वाणियाँ (चर्यापद) जहाँ सहज जीवन और गुरु के महत्व पर जोर देती थीं, वहीं नाथों ने **हठयोग, कुंडलिनी जागरण और वैराग्य** को प्रधानता दी। ये धार्मिक रचनाएँ प्रायः **सांध्य भाषा** (संध्या काल की तरह अस्पष्ट, रहस्यमय भाषा) में लिखी गई थीं। इसके अलावा, **जैन कवियों** ने भी अपभ्रंश और हिंदी में अपने धर्म के सिद्धांतों और तीर्थंकरों के जीवन चरित्रों का वर्णन किया, जैसे **शालिभद्र सूरि का भरतेश्वर बाहुबली रास**, जिनमें शांत रस की प्रधानता थी।

तीसरी विशेषता **लोक-जीवन से जुड़ी रचनाएँ** हैं। यद्यपि दरबारी साहित्य प्रमुख था, फिर भी लोक भाषा और लोक संस्कृति की झलक भी मिलती है। **अब्दुर्रहमान** का **संदेश रासक** एक विरह काव्य है, जिसे आदिकाल का प्रथम धर्मेतर रास ग्रंथ माना जाता है। सबसे महत्वपूर्ण कवि **अमीर खुसरो** थे, जिन्होंने **पहेलियाँ, मुकरियाँ और दोहे** लिखकर लोक मनोरंजन किया और **खड़ी बोली हिंदी** के प्रारंभिक स्वरूप को पहचान दी। खुसरो का साहित्य दरबारी सीमाओं से बाहर निकलकर जनसामान्य की भाषा और विषयवस्तु को अपनाया। निष्कर्ष रूप में, आदिकाल एक **संक्रमणकालीन युग** था, जहाँ साहित्य अपने **वीरगाथात्मक स्वरूप** के साथ-साथ **धार्मिक उपदेशों** और **लोक मनोरंजन** के तत्वों को भी समाहित किए हुए था। यह काल आगे चलकर भक्तिकाल की आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना के लिए आधार तैयार करने वाला सिद्ध हुआ।

1.2.3 भक्तिकाल: समय सीमा और विशेषताएँ

हिंदी साहित्य के इतिहास में **भक्तिकाल** (संवत् 1375 से संवत् 1700 विक्रमी, लगभग 1318 ई. से 1643 ई.) को **स्वर्ण युग** के नाम से जाना जाता है। इस कालखंड में साहित्य की जितनी उच्च कोटि की और जन-जन को प्रभावित करने वाली रचनाएँ हुईं, उतनी किसी अन्य काल में नहीं हुईं।

चित्र 1.3: भक्तिकाल की प्रमुख विशेषताएँ

इस काल का उदय दक्षिण भारत में **आलवार संतों** के आंदोलन से माना जाता है, जो उत्तर भारत में राजनीतिक पराधीनता, सामाजिक अस्थिरता और धार्मिक आडंबरों के बीच एक **मानसिक और आध्यात्मिक मुक्ति** का मार्ग लेकर आया। आचार्य शुक्ल के अनुसार, देश में मुसलमानों के प्रवेश के बाद जनता में आई निराशा और पराजय की भावना से बचने के लिए, या तो उन्हें **भगवान की शरण** में जाना पड़ा, या फिर वे **आध्यात्मिक शक्ति** की ओर मुड़ गए। हालांकि, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे भारतीय भक्ति परंपरा का **स्वतः स्फूर्त विकास** मानते हैं, जो किसी बाहरी दबाव का परिणाम नहीं था, बल्कि भारतीय **चिन्तन की स्वाभाविक धारा** थी। भक्तिकाल को मुख्यतः **दो धाराओं** में विभाजित किया गया है: **निर्गुण भक्तिधारा** और **सगुण भक्तिधारा**। प्रत्येक धारा की फिर दो उपधाराएँ हैं, जिससे कुल चार प्रमुख काव्यधाराएँ बनती हैं:

1. निर्गुण भक्तिधारा:

- **ज्ञानाश्रयी शाखा (संत काव्य):** इसके प्रमुख कवि **कबीरदास** थे। इस धारा में ईश्वर को निराकार, **अव्यक्त और निर्गुण** माना गया। संतों ने **जाति-पाति, धर्म और बाह्याडंबरों** का घोर विरोध किया। उन्होंने **गुरु के महत्व** को सर्वोच्च स्थान दिया और **ईश्वर को हृदय में** खोजने का संदेश दिया। इनकी भाषा **सधुक्कड़ी** (पंचमेल खिचड़ी) थी, जिसमें विभिन्न प्रांतीय भाषाओं का मिश्रण था। **नानकदेव** और **रैदास** भी इसी शाखा के प्रमुख कवि थे।
- **प्रेमाश्रयी शाखा (सूफ़ी काव्य):** इसके प्रमुख कवि **मलिक मुहम्मद जायसी** थे, जिनकी रचना **पद्मावत** अत्यंत प्रसिद्ध है। इन कवियों ने **प्रेम को माध्यम** बनाकर ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग बताया। इन्होंने **ईश्वरीय प्रेम** को लौकिक प्रेम (प्रेमाख्यान) के रूप में प्रस्तुत किया। ये कवि प्रायः सूफी थे और इन्होंने अपनी रचनाओं के लिए **अवधी भाषा** और **दोहा-चौपाई शैली** का प्रयोग किया। इनमें **मंझन** (मधुमालती) और **कुतुबन** (मृगावती) भी उल्लेखनीय हैं।

2. सगुण भक्तिधारा:

- **रामाश्रयी शाखा:** इसके सर्वमान्य प्रतिनिधि कवि **गोस्वामी तुलसीदास** थे, जिनकी कालजयी कृति **रामचरितमानस** है। इस शाखा ने विष्णु के **राम अवतार**

को आराध्य माना। राम को **लोकमंगलकारी, मर्यादा पुरुषोत्तम** के रूप में चित्रित किया गया। इस काव्य का उद्देश्य धर्म, नीति और समाज के आदर्शों की स्थापना करना था। तुलसीदास ने **अवधी भाषा** का और साथ ही ब्रज भाषा का भी उत्कृष्ट प्रयोग किया।

- **कृष्णाश्रयी शाखा:** इसके प्रतिनिधि कवि सूरदास थे, जिन्हें अष्टछाप के कवियों में प्रमुख माना जाता है। इन्होंने विष्णु के कृष्ण अवतार को आराध्य माना। कृष्ण के माखनचोर, बाल-लीला और रास-लीला के माध्यम से माधुर्य और वात्सल्य भाव की पराकाष्ठा का चित्रण किया गया। इनकी कविता का केंद्र ब्रज भाषा थी, और इन्होंने पद शैली का प्रयोग किया। मीराबाई, रसखान, और नंददास भी इस शाखा के प्रमुख कवि थे।

भक्तिकाल की सर्वव्यापी विशेषता यह थी कि इसने सामंजस्य और समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया। कबीर ने हिंदू-मुस्लिम एकता, सगुण और निर्गुण के समन्वय, तथा ऊंच-नीच के भेदभाव को मिटाने का प्रयास किया। तुलसीदास ने शैव और वैष्णव धर्मों के बीच समन्वय स्थापित किया। इस काल के साहित्य ने शाश्वत मूल्यों, नैतिक आदर्शों और मानवीय भावनाओं को इतनी गहनता से छुआ कि यह आज भी प्रासंगिक है। इस काल की भाषाएँ अवधी और ब्रज उच्चतम साहित्यिक स्तर पर पहुँचीं, और काव्य-शैलियों में दोहा, चौपाई, पद और कवित्त-सवैया का उत्कृष्ट प्रयोग हुआ। भक्तिकाल वास्तव में भारत की आत्मा को अभिव्यक्ति देने वाला युग था।

1.2.4 रीतिकाल: समय सीमा और विशेषताएँ

हिंदी साहित्य में **रीतिकाल** का समय संवत् 1700 से संवत् 1900 विक्रमी (लगभग 1643 ई. से 1843 ई.) तक माना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे यह नाम इसलिए दिया क्योंकि इस काल में **रीति (काव्यशास्त्र)** अर्थात् काव्य-रचना के नियमों, जैसे **रस, अलंकार, छंद, नायिका भेद** आदि के आधार पर रचना करने की **प्रवृत्ति प्रधान** थी। यह वह समय था जब मुगल साम्राज्य का वैभव क्षीण हो रहा था, लेकिन **विलासिता और कलात्मकता** का प्रभाव छोटे-बड़े सभी राजदरबारों में चरम पर था। अतः, रीतिकाल का साहित्य **दरबारी संस्कृति** से पूर्णतः प्रभावित रहा।

कवियों का मुख्य उद्देश्य अब आत्म-संतोष या लोकमंगल नहीं, बल्कि अपने **आश्रयदाता राजाओं का मनोरंजन** करना और उनसे **धन व सम्मान** प्राप्त करना था।

चित्र 1.4: रीतिकाल: समय सीमा

रीतिकाल की **सबसे प्रमुख विशेषता** है **श्रृंगार रस** की प्रधानता। जीवन के अन्य पहलुओं की उपेक्षा करके, कवियों ने नायक-नायिका के प्रेम, सौंदर्य और विलास का अत्यंत **बारीक और कलात्मक** चित्रण किया। यह श्रृंगार वर्णन मुख्यतः **संयोग श्रृंगार** पर केंद्रित था, जिसमें नारी सौंदर्य का **नख-शिख वर्णन** (पैर के नाखून से लेकर सिर के केश तक) विस्तार से किया गया। इस काल के साहित्य में **नारी केवल भोग की वस्तु** बनकर रह गई थी, और उसमें भक्तिकाल जैसी **दिव्यता और मर्यादा** का अभाव था। दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता **काव्य शास्त्रीयता** है। कवियों ने संस्कृत के काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को आधार बनाकर हिंदी में लक्षण-ग्रंथों (काव्य-सिद्धांतों का वर्णन करने वाले ग्रंथ) की रचना की। वे पहले किसी अलंकार या रस का लक्षण (परिभाषा) देते थे और फिर उदाहरण स्वरूप अपनी कविता प्रस्तुत करते थे।

रीतिकाल के कवियों को उनकी काव्य-प्रवृत्ति के आधार पर **तीन वर्गों** में विभाजित किया गया है:

1. **रीतिबद्ध कवि:** वे कवि जिन्होंने **लक्षण ग्रंथों** की रचना की और काव्य के सभी अंगों रस, अलंकार, छंद आदि को नियमबद्ध रूप से बांधा। ये कवि रीति के बंधन

में बंधे थे। प्रमुख कवि: **केशवदास** (कविप्रिया, रसिकप्रिया), **मतिराम** (रसराज), **देव** (भवानी विलास), **पद्माकर**।

2. **रीतिसिद्ध कवि:** ये वे कवि थे जिन्होंने **लक्षण ग्रंथ तो नहीं लिखे**, लेकिन रीति-ग्रंथों की जानकारी को अपनी रचनाओं में **पूर्णतः आत्मसात** कर लिया था। उनकी कविता स्वतः ही रीति-नियमों का पालन करती थी। इस धारा के एकमात्र और सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि **बिहारी** थे, जिनकी **बिहारी सतसई** (लगभग 713 दोहों का संग्रह) श्रृंगार, नीति और भक्ति के अद्भुत मिश्रण के लिए विख्यात है। उनके दोहों में **गागर में सागर** भरने की कला पाई जाती है।
3. **रीतिमुक्त कवि:** ये वे कवि थे जिन्होंने **रीति के बंधनों को तोड़कर** स्वच्छंद रूप से **भावों की अनुभूति** को व्यक्त किया। इनका प्रेम **दरबारी वासना** से हटकर **शुद्ध, मार्मिक और एकांतिक** था। इनकी कविता में प्रेम की **पीड़ा और वेदना** की गहरी अभिव्यक्ति मिलती है। इस शाखा के प्रमुख कवि थे **घनानंद, आलम, बोधा और ठाकुर**। घनानंद का प्रेम **सुजान** नामक नर्तकी के प्रति था, और उनकी विरह-वेदना का चित्रण हिंदी साहित्य में अद्वितीय है।

रीतिकाल की एक अन्य विशेषता **अलंकारिकता** की अतिशयता है। कवियों ने अपनी रचनाओं को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए अलंकारों का इतना अधिक प्रयोग किया कि कई बार **भाव दब गए** और केवल **शब्दों का खेल** हावी हो गया। इस काल की **भाषा ब्रज** थी, जिसने अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त किया, और कवियों ने मुख्यतः **कवित्त और सवैया** छंदों का प्रयोग किया। हालाँकि इस काल में **भक्ति और नीति** संबंधी रचनाएँ भी हुईं (जैसे वृंद के नीति के दोहे), लेकिन **श्रृंगार और रीति-निरूपण** की प्रवृत्ति ही प्रधान रही। रीतिकाल का अंत भारत में **अंग्रेजी शासन** की स्थापना और **भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना** के उदय के साथ हुआ, जिसने साहित्य को दरबारों से निकालकर **जनजीवन के यथार्थ** की ओर मोड़ दिया।

1.2.5 आधुनिक काल: समय सीमा और विशेषताएँ

हिंदी साहित्य में **आधुनिक काल** का आरंभ संवत् 1900 विक्रमी (लगभग 1843 ई.) से माना जाता है और यह आज तक निरंतर गतिशील है। इसे आचार्य शुक्ल ने **गद्य काल** भी कहा है, क्योंकि इस युग में **गद्य** (नाटक, निबंध, उपन्यास, कहानी) का

विकास हुआ, जिसने काव्य को पीछे छोड़ दिया। आधुनिक काल केवल समय का परिवर्तन नहीं है, बल्कि यह **युग-चेतना का अभूतपूर्व बदलाव** है। इस काल का साहित्य **राष्ट्रीयता, सामाजिक सुधार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद और यथार्थवाद** से ओत-प्रोत है। भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर आज के समकालीन लेखन तक, आधुनिक काल कई प्रमुख **युगों और प्रवृत्तियों** में विभाजित है, जिनमें से प्रत्येक ने साहित्य को एक नई दिशा दी।

आधुनिक काल की मुख्य विशेषताएँ इसके विभिन्न चरणों के माध्यम से समझी जा सकती हैं:

1. भारतेंदु युग (पुनर्जागरण काल, 1843–1893 ई.):

- **विशेषताएँ:** इस युग के प्रणेता भारतेंदु हरिश्चंद्र थे। यह पुनर्जागरण का काल था, जहाँ एक ओर प्राचीन संस्कृति के प्रति गौरव भाव था, तो दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों और अंग्रेजी शासन के प्रति विरोध। साहित्य में राष्ट्रीयता (देशप्रेम) और समाज सुधार की भावना का समावेश हुआ। साहित्य का केंद्र राजदरबार से हटकर जनसमाज बन गया। इस युग में ही खड़ी बोली गद्य का व्यवस्थित रूप से विकास आरंभ हुआ, जबकि काव्य की भाषा अब भी मुख्यतः ब्रज ही रही। नाटक, निबंध और पत्रकारिता का जन्म हुआ।

2. द्विवेदी युग (जागरण-सुधार काल, 1893–1918 ई.):

- **विशेषताएँ:** यह युग आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर है, जिन्होंने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से हिंदी भाषा और साहित्य की महान सेवा की। इस युग की सबसे बड़ी देन खड़ी बोली को काव्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना था। द्विवेदी जी ने कवियों को उपदेश दिया कि वे केवल श्रृंगार नहीं, बल्कि नैतिकता, कर्तव्य, और जीवन के विविध पक्षों पर कविता लिखें। इस युग में अंधविश्वासों का विरोध और मानव मूल्यों पर बल दिया गया। मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती राष्ट्रीय भावना की प्रतीक बनी।

3. छायावाद (स्वच्छंदतावाद, 1918–1936 **ई.):**

- **विशेषताएँ:** यह हिंदी काव्य में रोमांटिक क्रांति थी, जिसने स्थूलता के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह किया। छायावाद में व्यक्तिगत भावना, प्रकृति का मानवीकरण, सौंदर्य और प्रेम का चित्रण रहस्यात्मकता के साथ किया गया। भाषा कोमल,कांत और लाक्षणिक हो गई। इसे "ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति" का काव्य कहा गया। चार स्तंभों जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा ने इस शैली को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया।

4. छायावादोत्तर काल (1936 ई. से आगे):

- **प्रगतिवाद (1936–1943):** यह मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित था, जिसने शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति और पूँजीवादी शोषण के विरोध को अपनी कविता का विषय बनाया। कवि जनजीवन के यथार्थ की ओर मुड़े। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, और मुक्तिबोध प्रमुख कवि थे।
- **प्रयोगवाद और नई कविता (1943 से आगे):** अज्ञेय द्वारा प्रवर्तित यह धारा व्यक्ति के आत्मसंघर्ष, निराशा, और शहरी जीवन की जटिलता पर केंद्रित थी। इसमें नए बिंबों, प्रतीकों और उपमानों का प्रयोग किया गया। 'नई कविता' ने पुराने काव्य-बंधनों को तोड़कर सपाट यथार्थ को अपनाया और लघु मानव को प्रतिष्ठित किया।
- **समकालीन कविता:** इसके बाद साठोत्तरी कविता, अकविता और आज की समकालीन कविताएँ आती हैं, जो राजनीतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक विसंगतियों और आम आदमी की पीड़ा को अभिव्यक्त करती हैं।

आधुनिक काल की सबसे बड़ी और स्थायी विशेषता गद्य विधाओं का विकास है। प्रेमचंद ने उपन्यास और कहानी को यथार्थवाद की ऊँचाइयों पर पहुँचाया। रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना को व्यवस्थित आधार प्रदान किया। नाटक, एकांकी और संस्मरण जैसी विधाएँ भी परिपक्व हुईं। इस काल में मानक खड़ी बोली हिंदी को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान मिली और उसका स्वरूप स्थिर हुआ। यह युग विविधता, निरंतर परिवर्तन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का युग है।

इकाई 1.3: आदिकालीन साहित्यिक परंपराएँ

1.3.1 सिद्ध साहित्य

1. आदिकालीन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि और महत्व

हिंदी साहित्य का आदिकालीन खंड (लगभग 1000 ई. से 1350 ई. तक) भारतीय इतिहास और संस्कृति के एक महत्वपूर्ण संक्रमण काल को दर्शाता है, जब संस्कृत का प्रभाव क्षीण हो रहा था और क्षेत्रीय अपभ्रंश तथा अवहट्ट भाषाओं से आधुनिक भारतीय भाषाओं (जैसे हिंदी) का जन्म हो रहा था। यह वह युग था जब देश राजनीतिक अस्थिरता, बाह्य आक्रमणों के खतरे और आंतरिक धार्मिक व सामाजिक उथल-पुथल से जूझ रहा था। इस काल में साहित्य का सृजन मात्र मनोरंजन के लिए नहीं, बल्कि धार्मिक उपदेश, आत्मिक शुद्धि, वीरता के प्रदर्शन और जीवन दर्शन के प्रचार के लिए हुआ। इस युग में तीन प्रमुख साहित्यिक धाराएँ समानांतर रूप से प्रवाहित हुईं: सिद्ध साहित्य, जो बौद्ध धर्म के वज्रयान मत से उपजा; नाथ साहित्य, जिसने हठयोग को आधार बनाकर साधना पर बल दिया; और जैन साहित्य, जिसने अहिंसा और वैराग्य के सिद्धांतों को लोकभाषा में प्रसारित किया। इन तीनों धाराओं ने मिलकर न केवल अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया, बल्कि परवर्ती संत साहित्य (विशेषकर कबीर) और भक्ति आंदोलन के लिए भी वैचारिक और भाषिक आधार तैयार किया।

2. सिद्ध साहित्य का उद्भव और दार्शनिक आधार

सिद्ध साहित्य का उद्भव आठवीं शताब्दी के आसपास पूर्वी भारत (बिहार, बंगाल, असम) में हुआ। इसका सीधा संबंध बौद्ध धर्म के पतनशील रूप वज्रयान शाखा से है। वज्रयान में महायान की दार्शनिकता के साथ-साथ तंत्र-मंत्र, वामाचार और योग की क्रियाओं का मिश्रण हो गया था। सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है, जिनमें सरहपा को आदि सिद्ध या प्रथम कवि माना जाता है। सिद्धों के मत का दार्शनिक आधार शून्य या महासुख की प्राप्ति है। वे मानते थे कि निर्वाण (मोक्ष) बाहरी कर्मकांडों, तीर्थयात्रा या मूर्तिपूजा से नहीं, बल्कि शरीर के भीतर ही योग साधना और कुंडलिनी जागरण के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने बाह्य आडंबरों और रूढ़ियों का तीव्र विरोध किया और सहज जीवन को महत्व दिया।

इस मत में गुरु के महत्व को सर्वोच्च स्थान दिया गया, क्योंकि गुरु ही साधक को 'वज्र' (स्थिरता) और 'सहज' (मुक्ति) की ओर ले जाता है। इस कारण से, सिद्धों का साहित्य अपनी वामाचारी प्रवृत्तियों और तंत्र साधना के कारण समाज के कुछ वर्गों में विवादित भी रहा है, परंतु इसका साहित्यिक महत्व निर्विवाद है।

3. सिद्धों की प्रमुख साहित्यिक विशेषताएँ और भाषा

सिद्धों की साहित्यिक परंपरा मुख्य रूप से दोहों और चर्यापदों में मिलती है। दोहा उनकी उपदेशात्मक और सिद्धांतपरक बातों को संक्षिप्तता और तीव्रता से व्यक्त करने का माध्यम था, जबकि चर्यापद गेय पद थे, जिनका उपयोग वे अपनी साधना के समय या धार्मिक सभाओं में करते थे। सिद्धों की सबसे महत्वपूर्ण भाषाई विशेषता उनकी भाषा थी, जिसे संध्या भाषा या 'उलटबाँसी' शैली कहा गया है। यह भाषा जानबूझकर रहस्यमय, प्रतीकात्मक और द्वैध अर्थों वाली होती थी, ताकि साधारण व्यक्ति इसे तुरंत न समझ पाए और केवल दीक्षित साधक ही इसके गूढ़ अर्थों को समझ सकें। उदाहरण के लिए, "गंगा-जमुना माँझे रे बहई नाई" (गंगा-यमुना के बीच नाव बहती है) का साहित्यिक अर्थ नदी से संबंधित है, जबकि तात्विक अर्थ इड़ा और पिंगला नाड़ियों के बीच बहने वाली सुषुम्ना नाड़ी से है। उनकी रचनाओं में तत्कालीन लोकभाषाओं, अपभ्रंश, और पुरानी हिंदी का मिश्रण देखने को मिलता है, जो इन्हें परवर्ती हिंदी साहित्य की शुरुआती नींव प्रदान करता है।

4. प्रमुख सिद्ध कवि और उनकी रचनाएँ

चौरासी सिद्धों में कई कवि अत्यंत प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने हिंदी साहित्य को अमूल्य धरोहर दी। सरहपा (या सरोजवज्र) को प्रथम सिद्ध कवि माना जाता है, जिनकी प्रसिद्ध रचना 'दोहाकोष' है, जो सहजयान के सिद्धांतों का सरल किंतु गूढ़ विवेचन करती है। उनकी भाषा में लोकभाषा के तत्वों की प्रचुरता है। दूसरे महत्वपूर्ण सिद्ध शबरपा, जो सरहपा के शिष्य थे, ने अपने 'चर्यापदों' में तत्कालीन समाज की विसंगतियों और योग साधना की महत्ता को सरल गीतों के माध्यम से व्यक्त किया। लुइपा का स्थान सिद्धों में सर्वोच्च माना जाता है और उनके द्वारा रचित 'गीत' अत्यंत मधुर और प्रभावकारी हैं। कण्हपा (कृष्णपा) सबसे अधिक शास्त्रज्ञ और विद्वान सिद्धों में से थे, जिनकी रचनाओं में तांत्रिक साधना और महासुखवाद की गहरी छाप मिलती है।

इन कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से एक ऐसी विद्रोही विचारधारा को स्थापित किया, जिसने धार्मिक पाखंड और जातिगत भेदभाव का खुलकर खंडन किया, और इस प्रकार उन्होंने कबीर जैसे परवर्ती संतों के लिए सामाजिक सुधार का मार्ग प्रशस्त किया।

1.3.2 नाथ साहित्य

1. नाथ पंथ का परिचय, उद्गम और विस्तार

नाथ पंथ का उदय सिद्धों की तांत्रिक विकृतियों और वामाचारी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ माना जाता है। नाथों ने तंत्र-मंत्र के भोग-प्रधान तत्वों को त्यागकर शुद्ध योग साधना और वैराग्य को अपनाया। इस पंथ के आदि प्रवर्तक आदिनाथ (शिव) माने जाते हैं, परंतु इसके वास्तविक संगठक गोरखनाथ थे, जिन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्य माना जाता है। नाथों की संख्या नौ मानी गई है, जिनमें गोरखनाथ का नाम सर्वोपरि है। नाथ पंथ का भौगोलिक विस्तार अत्यंत व्यापक था; उन्होंने नेपाल से लेकर महाराष्ट्र और पंजाब तक अपने विचारों का प्रचार किया। गोरखनाथ ने सिद्धों द्वारा प्रचलित भोगवाद की निंदा की और जीवन में संयम, शुद्धि और कठोर अनुशासन पर आधारित हठयोग को केंद्र में रखा। उन्होंने ब्राह्मणवादी कर्मकांडों और मूर्तिपूजा के साथ-साथ सिद्धों के वाममार्गी तत्वों को भी अस्वीकार कर दिया, जिससे यह पंथ तत्कालीन समाज में अधिक सम्मानजनक और स्वीकार्य बन सका।

2. नाथ साहित्य की विचारधारा और योग साधना

नाथ साहित्य की मुख्य विचारधारा वैराग्य-प्रधान है, जो इंद्रिय संयम और आंतरिक शुद्धि पर बल देती है। नाथों ने शरीर को ही ब्रह्मांड का लघु रूप माना और यह सिखाया कि मोक्ष के लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है; कुंडलिनी को जागृत करके शरीर के भीतर के चक्रों को भेदना ही परम लक्ष्य है। उनकी साधना पद्धति हठयोग पर आधारित है, जिसका अर्थ है 'ह' (सूर्य/पिंगला) और 'ठ' (चंद्र/इड़ा) को मिलाना, अर्थात श्वास और मन पर नियंत्रण करना। षट्चक्र भेदन, नाद-साधना, और शून्य समाधि उनके प्रमुख साधना-मार्ग थे। नाथ साहित्य में सांसारिक मोहमाया, परिवार और धन के प्रति तीव्र अनास्था का भाव मिलता है। उन्होंने जातिवाद का भी

खंडन किया और धार्मिक सहिष्णुता पर बल दिया, क्योंकि उनके पंथ में सभी जातियों के लोग दीक्षित होते थे। नाथ साहित्य का यही शुद्धाचार और संयम-प्रधान दर्शन ही आगे चलकर निर्गुण भक्तिधारा के संतों की मुख्य प्रेरणा बना।

3. नाथों की साहित्यिक परंपरा और हठयोग का महत्व

नाथों की साहित्यिक परंपरा सिद्धों की तरह ही मुक्तक रचनाओं में मिलती है, जिनमें सबदी (उपदेशपरक पद), पद (गेय पद), और आत्मबोधक रचनाएँ प्रमुख हैं। गोरखनाथ ने स्वयं अपनी रचनाओं में अपभ्रंश और पुरानी हिंदी का मिश्रित रूप अपनाया, जिसे सधुक्कड़ी या पंचमेल खिचड़ी भाषा का प्रारंभिक रूप कहा जा सकता है। उनकी रचनाओं में धार्मिक उपदेश और योगिक क्रियाओं का वर्णन सरल, सीधी-सादी भाषा में किया गया है। नाथ साहित्य में हठयोग के तत्वों का वर्णन इतना विस्तृत है कि यह साहित्य योग-विज्ञान के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत बन गया है। वे मन को नियंत्रित करने के लिए विभिन्न आसनों, प्राणायामों और मुद्राओं का वर्णन करते हैं। साहित्य की दृष्टि से, उनकी भाषा खड़ी बोली के निकट होने के कारण परवर्ती हिंदी साहित्य के विकास में एक महत्वपूर्ण कड़ी साबित हुई। नाथ साहित्य ने समाज को एक व्यावहारिक, कर्मकांड-मुक्त और आत्म-निर्भर धार्मिक मार्ग प्रदान किया।

1.3.3 जैन साहित्य

1. जैन साहित्य: परिचय, रचनाकाल और उद्देश्य

जैन साहित्य का सृजन भारत के पश्चिमी क्षेत्रों (गुजरात, राजस्थान, दक्षिण भारत) में मुख्य रूप से हुआ। इसका रचनाकाल भी आदिकाल के समानांतर आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक विस्तृत है। जैन साहित्य के रचनाकारों का मुख्य उद्देश्य जैन धर्म के सिद्धांतों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रचार करना था, खासकर सामान्य जनता के बीच। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए लोकभाषा अपभ्रंश को अपनाया, जिससे उनका संदेश आम लोगों तक आसानी से पहुंच सका। जैन कवियों ने संस्कृत और प्राकृत के क्लिष्ट ग्रंथों को सरल रूप में प्रस्तुत किया। इस साहित्य की प्रमुख विधाएँ 'रास' (नृत्य और गायन के साथ प्रस्तुत किए जाने वाले काव्य), 'चरित' या 'चरिउ' (जैन तीर्थंकरों और महापुरुषों का जीवन चरित्र), और फागु

(वसंत ऋतु से संबंधित काव्य) थीं। यह साहित्य अत्यंत विशाल, संरक्षित और प्रामाणिक है, क्योंकि जैन आचार्यों ने इसे धर्म का अंग मानकर सावधानीपूर्वक लिपिबद्ध किया।

2. जैन कवियों का विशिष्ट योगदान और प्रमुख रचनाएँ

जैन कवियों का योगदान केवल धार्मिक प्रचार तक सीमित नहीं था, बल्कि उन्होंने साहित्यिक शैलियों और कथा परंपराओं को समृद्ध किया। स्वयंभू को अपभ्रंश का वाल्मीकि कहा जाता है, जिनकी महाकाव्यात्मक रचना 'पउम चरिउ' (पद्मचरित/रामकथा) भारतीय साहित्य के लिए एक अनमोल देन है। उन्होंने अपभ्रंश में चौपाई और दोहा छंदों का प्रयोग किया, जो हिंदी साहित्य में अत्यंत लोकप्रिय हुए। पुष्पदंत ने 'महापुराण' की रचना की, जिसमें 63 जैन शलाकापुरुषों (महापुरुषों) का चरित्र-वर्णन है। देवसेन कृत 'श्रावकाचार' (933 ई.) को कुछ विद्वान हिंदी की पहली रचना मानते हैं, जिसमें गृहस्थ धर्म का वर्णन है। जैन कवियों की एक विशिष्टता यह थी कि उन्होंने अपने धर्म प्रचार के लिए भारतीय लोककथाओं और प्रचलित कथाओं (जैसे राम और कृष्ण कथा) को जैन परिप्रेक्ष्य में ढाला। रास परंपरा में शालिभद्र सूरि का 'भरतेश्वर बाहुबली रास' उल्लेखनीय है, जो वीर और श्रृंगार रस से युक्त है।

3. सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य का तुलनात्मक महत्व और प्रभाव

सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य, यद्यपि अलग-अलग धार्मिक परंपराओं से उत्पन्न हुए, हिंदी साहित्य के विकास में एक-दूसरे के पूरक सिद्ध हुए। सिद्ध साहित्य ने सबसे पहले सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर बुलंद किया और लोकभाषा संध्या भाषा के प्रयोग से परवर्ती संतों को प्रतीकवाद की शैली दी। नाथ साहित्य ने सिद्धों के भोगवाद को त्यागकर शुद्ध योग साधना (हठयोग) को स्थापित किया और वैराग्य तथा कर्मकांड-विरोध के सिद्धांतों को मजबूती दी, जो कबीर के निर्गुण मार्ग की आधारशिला बने। वहीं, जैन साहित्य ने कथा काव्य की परंपरा को समृद्ध किया। जहाँ सिद्ध और नाथों ने मुक्तक पदों को अपनाया, वहीं जैन कवियों ने प्रबंध काव्य (चरित और रास) की रचना करके साहित्यिक विधाओं को विस्तार दिया। तीनों धाराओं ने मिलकर अपभ्रंश और अवहट्ट को हिंदी के निकट लाकर खड़ा कर दिया। इन तीनों की सम्मिलित देन से ही आदिकाल में हिंदी अपनी शैशवावस्था से निकलकर एक स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में पहचान बना सकी।

इकाई 1.4: प्रमुख रासो काव्य और उनकी प्रमाणिकता

1.4.1 वीर रासो काव्य

वीर रासो काव्य हिंदी साहित्य की एक विशिष्ट परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है, जो मध्यकालीन राजपूत काल के शौर्य, पराक्रम और राष्ट्रभक्ति से परिपूर्ण है। 'रासो' शब्द संस्कृत के "रासक" या "रासकाव्य" से विकसित हुआ है, जिसका तात्पर्य है नृत्य, उत्सव, और वीरता का वर्णन करने वाला काव्य। रासो काव्य मूलतः वीर रस प्रधान ग्रंथ हैं, जिनमें राजपूत वीरों के पराक्रम, युद्धनीति, सम्मान, स्वाभिमान, और देशप्रेम की भावना का अद्भुत चित्रण मिलता है। इन काव्यों में न केवल ऐतिहासिक घटनाओं का लेखा-जोखा है, बल्कि उनमें तत्कालीन समाज, राजनीति, संस्कृति, और नैतिक मूल्यों का भी सजीव चित्रण मिलता है। रासो काव्यों की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वे मात्र कल्पनात्मक न होकर अर्ध-ऐतिहासिक हैं। इनमें कवियों ने प्रत्यक्षदर्शी घटनाओं, युद्धों और वीरों के कर्मों को अपनी काव्य दृष्टि से प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि रासो साहित्य को राजपूती समाज की आत्मा कहा जाता है। इन काव्यों में कवि नायक के प्रति अत्यंत निष्ठावान और समर्पित भाव रखता है। वीरता के साथ-साथ नारी की पतिव्रता, मित्रता की मर्यादा, और धर्म की रक्षा की भावना भी प्रमुख विषय रही है। इसीलिए रासो साहित्य केवल युद्ध का चित्रण नहीं करता, बल्कि मानवीय गुणों के उच्चतम रूप को प्रस्तुत करता है।

पृथ्वीराज रासो

रासो परंपरा में सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण काव्य 'पृथ्वीराज रासो' है, जिसकी रचना चंदबरदाई ने की थी। चंदबरदाई पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि, मित्र, और युद्ध साथी थे। उन्होंने अपने नायक के जीवन, युद्धों, पराक्रम, और दिल्ली के सिंहासन पर उनके शासन की घटनाओं को काव्य के रूप में प्रस्तुत किया। पृथ्वीराज रासो हिंदी का पहला महाकाव्य कहा जाता है, जिसने वीर रस की आधारशिला रखी। इस काव्य में चंदबरदाई ने न केवल पृथ्वीराज की वीरता का वर्णन किया है, बल्कि भारतीय संस्कृति के गौरव और मुस्लिम आक्रमणों के प्रतिरोध की गाथा भी कही है।

चित्र 1.4: पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो में संयोग और वियोग के प्रसंग, जयचंद और संयोगिता का प्रसंग, घोड़े चेतक की निष्ठा, और मोहम्मद गोरी के विरुद्ध युद्ध जैसे प्रसंग अत्यंत प्रसिद्ध हैं। चंदबरदाई ने पृथ्वीराज को आदर्श वीर के रूप में प्रस्तुत किया है, जो न्यायप्रिय, नारी-सम्मान के रक्षक, और धर्मनिष्ठ राजा थे। यद्यपि इसमें कई घटनाएँ ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित नहीं हैं, फिर भी इस काव्य ने भारतीय मानस में पृथ्वीराज को एक अमर वीर के रूप में स्थापित कर दिया। काव्य की भाषा ब्रजभाषा और पुरानी राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश रूप में है। इसमें वीरता के साथ-साथ काव्य सौंदर्य, छंद की लयात्मकता, और देशभक्ति का उत्कर्ष देखने को मिलता है। 'रासो' में प्रयुक्त छप्पय, दोहा, चौपाई आदि छंदों ने इसे अत्यंत लोकप्रिय बनाया। इसकी भाषा और शैली में जो शक्ति और आवेग है, वह शौर्य और भावनात्मक ऊर्जाओं का समन्वय करता है।

अन्य रासो काव्य

पृथ्वीराज रासो के पश्चात अनेक अन्य रासो काव्य भी रचे गए, जिन्होंने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। इन रासो काव्यों में प्रमुख हैं हम्मीर रासो, खुमाण रासो, उदयपुर रासो, राजवल्लभ रासो, चंद रासो, जसवंत रासो, दूधाजी रासो, आदि। इन सभी काव्यों का उद्देश्य था किसी विशिष्ट राजपूत वीर की गाथा का वर्णन और उसकी वीरता का अमरकरण। 'हम्मीर रासो' में चूड़ामणि कवि ने रणथंभौर के राजा हम्मीरदेव की गाथा लिखी। यह काव्य मुस्लिम आक्रमणों के विरुद्ध हम्मीरदेव की शौर्यगाथा का दर्पण है।

'खुमाण रासो' भी इसी परंपरा का विस्तार है, जिसमें महाराणा खुमाण के पराक्रम और सिसोदिया वंश की वीरता का वर्णन है। इसी प्रकार 'उदयपुर रासो' और 'जसवंत रासो' ने मेवाड़ और मारवाड़ के राजाओं के कार्यों को काव्य रूप में अमर कर दिया। इन काव्यों में लोकभाषा, लोकजीवन और वीर भावना का अद्भुत संगम है। रासो कवि समाज की गौरवपूर्ण परंपराओं, धर्म और देश की रक्षा की भावना से प्रेरित थे। इसलिए रासो साहित्य को केवल साहित्यिक उपलब्धि न मानकर, एक सांस्कृतिक दस्तावेज भी समझा जाता है।

1.4.2 रासो काव्यों की प्रमाणिकता

रासो काव्यों की प्रमाणिकता को लेकर साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में लंबे समय से विवाद रहा है। एक ओर जहाँ इतिहासकार इन काव्यों की घटनाओं को संदिग्ध मानते हैं, वहीं साहित्यकार इन्हें सांस्कृतिक सत्य का प्रतीक मानते हैं। रासो काव्यों की प्रमाणिकता का मूल्यांकन दो दृष्टियों से किया जाता है ऐतिहासिक दृष्टि और साहित्यिक दृष्टि। दोनों ही दृष्टियों से रासो साहित्य का महत्व असंदिग्ध है।

ऐतिहासिक प्रमाणिकता

इतिहास की दृष्टि से रासो काव्य महत्वपूर्ण स्रोत तो हैं, लेकिन पूर्णतः विश्वसनीय नहीं माने जाते। इसका कारण यह है कि रासो कवियों ने घटनाओं को काव्यात्मक सौंदर्य और वीर भावनाओं से परिपूर्ण करने के लिए कई स्थलों पर कल्पना का सहारा लिया है। उदाहरण के लिए, पृथ्वीराज रासो में वर्णित पृथ्वीराज द्वारा गोरी को मारने का प्रसंग ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित नहीं है, परंतु यह कथा वीरता की चरम सीमा को व्यक्त करती है। इसी प्रकार संयोगिता हरण का प्रसंग भी लोककथाओं पर आधारित माना जाता है।

रासो काव्य उस युग की मौखिक परंपरा पर आधारित थे। कवि अपने नायकों की कीर्ति गान करते हुए समाज को प्रेरणा देते थे। इस प्रकार उनके काव्य का उद्देश्य ऐतिहासिक दस्तावेज तैयार करना नहीं, बल्कि राष्ट्रीय गौरव की रक्षा और वीरता का प्रचार करना था। यद्यपि इनमें तिथियाँ, स्थान, और घटनाएँ सटीक नहीं हैं, फिर भी वे उस समय के समाज और राजनीति की झलक अवश्य देते हैं। रासो काव्य से हमें उस

युग के राजनीतिक संघर्ष, सामंती व्यवस्था, वीर आदर्शों, और सांस्कृतिक मूल्यों की जानकारी प्राप्त होती है। इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि पृथ्वीराज रासो में उल्लिखित कई घटनाएँ, जैसे कि अजमेर-दिल्ली का शासन, गोरी के आक्रमण, और जयचंद का अस्तित्व, ऐतिहासिक आधार पर सत्य हैं। अतः रासो काव्यों को ऐतिहासिक कल्पना और तथ्य का मिश्रण कहा जा सकता है।

साहित्यिक मूल्य

साहित्यिक दृष्टि से रासो काव्य हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। इन काव्यों ने वीर रस को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया और राजस्थानी-ब्रजभाषा के समन्वय से जो भाषा बनी, उसने आगे चलकर हिंदी की काव्यभाषा को समृद्ध किया। रासो कवियों ने केवल वीरता का चित्रण नहीं किया, बल्कि मानवीय संवेदनाओं को भी गहराई से स्पर्श किया। मित्रता, नारी की निष्ठा, मातृभूमि प्रेम, और स्वाभिमान जैसी भावनाओं का उत्कृष्ट चित्रण इन काव्यों में मिलता है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रासो साहित्य में अलंकार, छंद, और भाषा की विशिष्टता देखने योग्य है। छप्पय छंद की ताल और लय ने इन काव्यों को गेयता प्रदान की। कवियों ने उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रभावशाली प्रयोग किया, जिससे वीरता के प्रसंगों में नाटकीयता और सौंदर्य दोनों का संगम हुआ। रासो कव्य परंपरा ने हिंदी साहित्य में 'लोकभावना' और 'राष्ट्रीय चेतना' के बीज बोए। यह साहित्य किसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज की सामूहिक चेतना का दर्पण है। रासो काव्य का नायक केवल राजा नहीं, बल्कि राष्ट्र की आत्मा का प्रतीक होता है। इसलिए इसे भारतीय साहित्य की गौरवशाली परंपरा में एक जीवंत दस्तावेज माना जाता है।

रासो काव्यों का सांस्कृतिक मूल्य

रासो साहित्य केवल वीरता की कथाओं का संग्रह नहीं, बल्कि उस समय की राजपूती संस्कृति, युद्धनीति, धार्मिक विश्वास, नारी आदर्श, और सामाजिक मूल्य का प्रतिबिंब भी है। इन काव्यों से उस युग की जीवनशैली, पोशाक, अस्त्र-शस्त्र, विवाह प्रथाएँ, और धार्मिक अनुष्ठान तक की जानकारी मिलती है। विशेष रूप से, नारी की भूमिका चाहे

वह संयोगिता हो, पद्मिनी हो या किसी अन्य वीर पत्नी भारतीय स्त्री की मर्यादा और साहस दोनों का प्रतीक बनकर सामने आती है। रासो कवियों ने न केवल पुरुष वीरों की प्रशंसा की, बल्कि नारी के साहस और धर्मपालन की भावना का भी महिमामंडन किया। इस प्रकार रासो साहित्य ने स्त्री को भी समान रूप से राष्ट्र की रक्षक और धर्म की धारक के रूप में प्रस्तुत किया।

रासो काव्य की आलोचना और पुनर्मूल्यांकन

आधुनिक युग में रासो साहित्य की आलोचना कई आधारों पर हुई है। कुछ विद्वान इसे अति-कल्पनात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण मानते हैं। उनका कहना है कि रासो कवियों ने अपने नायकों को ईश्वर तुल्य बना दिया, जिससे यथार्थता का ह्रास हुआ।

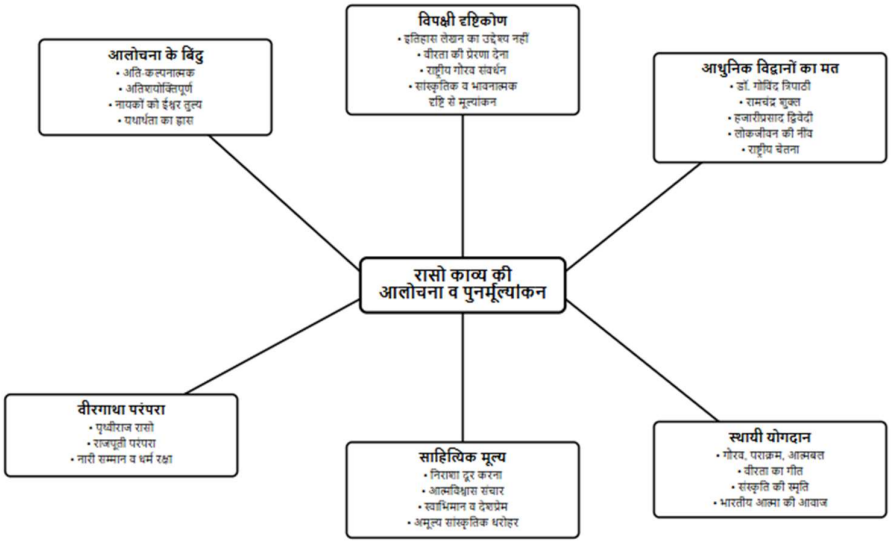

चित्र 1.8: रासो काव्य की आलोचना और पुनर्मूल्यांकन

किंतु इसके विपरीत मत रखने वाले साहित्यकार कहते हैं कि रासो साहित्य का उद्देश्य इतिहास लिखना नहीं था, बल्कि वीरता की प्रेरणा देना और राष्ट्रीय गौरव का संवर्धन करना था। अतः इसकी प्रमाणिकता को ऐतिहासिक कसौटी पर नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और भावनात्मक दृष्टि से परखा जाना चाहिए। आधुनिक इतिहासकारों जैसे कि डॉ. गोविंद त्रिपाठी, रामचंद्र शुक्ल, और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो साहित्य को भारतीय लोकजीवन और राष्ट्रीय चेतना की नींव बताया है।

उनके अनुसार, रासो साहित्य ने जनमानस में उस समय उत्पन्न निराशा को दूर कर आत्मविश्वास का संचार किया। यह साहित्य आज भी उस स्वाभिमान और देशप्रेम की भावना का प्रतीक है जिसने भारतीय संस्कृति को जीवित रखा।

रासो काव्य हिंदी साहित्य की वीरगाथा परंपरा का जीवंत प्रमाण है। इन काव्यों ने इतिहास, समाज, संस्कृति, और साहित्य सभी को प्रभावित किया। पृथ्वीराज रासो के रूप में हिंदी साहित्य को उसका पहला वीर महाकाव्य मिला, जिसने राजपूती परंपरा, नारी सम्मान, और धर्म की रक्षा के आदर्श को साकार किया। यद्यपि इन काव्यों की ऐतिहासिक प्रमाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाए जा सकते हैं, परंतु इनके साहित्यिक और सांस्कृतिक मूल्य अमूल्य हैं। रासो साहित्य ने मध्यकालीन भारत के गौरव, पराक्रम और आत्मबल को काव्य रूप में संरक्षित किया। यह केवल अतीत की वीरगाथा नहीं, बल्कि भारतीय आत्मा की वह आवाज है जो हर युग में देशभक्ति और वीरता का संदेश देती रही है। इसीलिए रासो काव्य भारतीय साहित्य में "वीरता का गीत और संस्कृति की स्मृति" बनकर अमर हो गया है।

1.5 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

1.5.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास लेखक कौन माना जाता है?

क) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

ख) गार्सा द तासी

ग) जॉर्ज ग्रियर्सन

घ) मिश्रबंधु

2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य को कितने कालों में विभाजित किया?

क) तीन

ख) चार

ग) पाँच

घ) छह

3. आदिकाल की समय सीमा है:

क) 1000 ई. से 1375 ई. तक

ख) 1375 ई. से 1700 ई. तक

ग) 1700 ई. से 1900 ई. तक

घ) 1900 ई. से अब तक

4. सिद्ध साहित्य की भाषा थी:

क) संस्कृत

ख) अपभ्रंश

ग) ब्रज

घ) अवधी

5. 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता कौन हैं?

क) नरपति नाल्ह

ख) चंदबरदाई

ग) जगनिक

घ) शारंगधर

6. सरहपा किस साहित्यिक परंपरा से संबंधित हैं?
क) जैन साहित्य
ख) सिद्ध साहित्य
ग) नाथ साहित्य
घ) रासो साहित्य
7. नाथ पंथ के प्रवर्तक कौन माने जाते हैं?
क) सरहपा
ख) गोरखनाथ
ग) कबीरदास
घ) तुलसीदास
8. हेमचंद्र किस साहित्यिक परंपरा के कवि थे?
क) सिद्ध साहित्य
ख) नाथ साहित्य
ग) जैन साहित्य
घ) रासो साहित्य
9. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' किसकी महत्वपूर्ण कृति है?
क) हजारी प्रसाद द्विवेदी
ख) रामचंद्र शुक्ल
ग) नगेंद्र
घ) रामविलास शर्मा
10. रासो काव्यों की प्रमुख विषयवस्तु क्या है?
क) भक्ति
ख) श्रृंगार
ग) वीरता
घ) नीति

1.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. आदिकाल की मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ क्या हैं?
3. सिद्ध साहित्य और नाथ साहित्य में क्या अंतर है?
4. रासो काव्य की प्रमाणिकता के विवाद पर संक्षेप में लिखिए।
5. हिन्दी साहित्य के काल विभाजन का क्या महत्व है?

1.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा का विस्तार से वर्णन कीजिए। प्रमुख इतिहासकारों के योगदान पर प्रकाश डालिए।
2. हिन्दी साहित्य के काल विभाजन पर विस्तृत चर्चा कीजिए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काल विभाजन की समीक्षा कीजिए।

3. आदिकालीन साहित्यिक परंपराओं (सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य) का विस्तृत परिचय दीजिए।
4. प्रमुख रासो काव्यों का परिचय देते हुए उनकी प्रमाणिकता पर विचार कीजिए।
5. आदिकाल की सामान्य विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।

उत्तर-कुंजी

क) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

ख) चार

क) 1000 ई. से 1375 ई. तक

ख) अपभ्रंश

ख) चंदबरदाई

ख) सिद्ध साहित्य

ख) गोरखनाथ

ग) जैन साहित्य

ख) रामचंद्र शुक्ल

ग) वीरता

मॉड्यूल 2

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सामान्य विशेषताएँ

संरचना

इकाई: 2.1 अमीर खुसरो की हिन्दी कविता

इकाई: 2.2 विद्यापति और उनकी पदावली

2.0 उद्देश्य

- अमीर खुसरो के जीवन और साहित्यिक योगदान को समझना
- उनकी हिन्दी कविता की विशेषताओं का अध्ययन
- प्रमुख रचनाओं का परिचय
- विद्यापति के जीवन और साहित्य का परिचय
- उनकी पदावली की विशेषताओं को समझना
- भक्ति और श्रृंगार रस का अध्ययन

इकाई 2.1: अमीर खुसरो की हिन्दी कविता

2.1.1 अमीर खुसरो का योगदान

अमीर खुसरो

अमीर खुसरो (जन्म: लगभग 1253 ई., मृत्यु: 1325 ई.) भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में एक ऐसा अप्रतिम व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने केवल अपने समय को ही नहीं, बल्कि आने वाली कई सदियों की कला, भाषा और संस्कृति की दिशा को भी निर्धारित किया। उन्हें "तूतिए-हिन्द" अर्थात् "भारत का तोता" की उपाधि से विभूषित किया गया, जो उनके बहुआयामी साहित्यिक और संगीतिक कौशल का प्रमाण है। खुसरो का सबसे महत्वपूर्ण योगदान समन्वय और संश्लेषण की उनकी अद्भुत क्षमता में निहित है। वह पहले ऐसे भारतीय कवि थे जिन्होंने फारसी (तत्कालीन दरबारी और साहित्यिक भाषा) और हिन्दवी (लोकभाषा, जिसे खड़ी बोली या आदिकालीन हिंदी का रूप माना जाता है) के बीच एक शक्तिशाली सेतु का निर्माण किया।

खुसरो को केवल एक कवि या संगीतज्ञ के रूप में देखना उनके सम्पूर्ण प्रभाव को कम आँकना होगा। वह एक दरबारी इतिहासकार, एक सूफी संत के शिष्य, एक भाषाविद,

और एक संगीत नवप्रवर्तक थे। उनका जीवन दिल्ली सल्तनत के अस्थिर और परिवर्तनकारी दौर (लगभग सात सुल्तानों का शासन) के समानांतर चला, और उन्होंने इन सभी राजनीतिक उथल-पुथल को अपनी रचनाओं में ईमानदारी और कौशल के साथ दर्ज किया। उन्होंने फारसी में उच्च कोटि की मसनवी (कथा काव्य), कसीदा (प्रशंसा काव्य), और ग़ज़ल लिखीं, जो उन्हें फारसी साहित्य के महानतम कवियों की श्रेणी में स्थापित करती हैं। साथ ही, उन्होंने अपनी हिन्दवी रचनाओं पहेलियाँ, मुकरियाँ, और दोहे के माध्यम से भारतीय जनमानस की आत्मा को छुआ। इन रचनाओं ने न केवल मनोरंजन किया, बल्कि पहली बार स्थानीय बोलचाल की भाषा को साहित्यिक सम्मान और स्थिरता प्रदान की, जिसे बाद में हिंदी और उर्दू के विकास का आधार माना गया।

चित्र 2.5: अमीर खुसरो

खुसरो का योगदान भारतीय संगीत में भी क्रांतिकारी रहा। उन्होंने भारतीय और फारसी संगीत प्रणालियों को मिलाकर कव्वाली जैसी नई शैलियों को जन्म दिया और माना जाता है कि उन्होंने सितार और तबला जैसे वाद्य यंत्रों के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका सम्पूर्ण जीवन एक गंगा-जमुनी तहज़ीब (समग्र भारतीय संस्कृति) का जीवंत उदाहरण है, जहाँ दो भिन्न संस्कृतियाँ इस्लामी-फारसी और भारतीय-हिन्दू आपस में घुल-मिलकर एक नई, सुंदर सांस्कृतिक धारा को जन्म देती हैं। इस प्रकार, अमीर खुसरो का योगदान एक राष्ट्रीय एकता के सूत्रधार और भारतीय भाषाओं तथा कलाओं के पितामह के रूप में अमूल्य है।

जीवन परिचय और बहुमुखी साहित्यिक यात्रा

अमीर खुसरो का मूल नाम अबुल हसन यमीनुद्दीन खुसरो था। उनका जन्म 1253 ईस्वी में वर्तमान उत्तर प्रदेश के पटियाली नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता, अमीर सैफुद्दीन महमूद, मध्य एशिया के लाचन तुर्क कबीले से थे, जो मंगोल आक्रमणों से बचने के लिए भारत आए थे और दिल्ली सल्तनत के अधीन एक सैन्य अधिकारी के रूप में कार्यरत थे। उनकी माता एक भारतीय राजपूत महिला थीं। इस प्रकार, खुसरो को जन्म से ही भारतीय और तुर्क-फारसी संस्कृति का मिश्रण विरासत में मिला, जिसने उनकी समन्वयवादी सोच को आकार दिया।

खुसरो के जीवन का सबसे निर्णायक मोड़ उनके आध्यात्मिक गुरु हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया से उनका गहरा जुड़ाव था। मात्र आठ वर्ष की आयु में, पिता के निधन के बाद, उनका पालन-पोषण उनकी माँ और नाना ने किया। उन्होंने शुरू से ही उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त की और कविता में गहन रुचि विकसित की। लेकिन निज़ामुद्दीन औलिया की खानकाह (आश्रम) में उनका प्रवेश न केवल उनकी आध्यात्मिक यात्रा का केंद्र बना, बल्कि उनके कलात्मक विकास के लिए भी एक सुरक्षित और प्रेरणादायक आश्रय प्रदान किया। उन्होंने अपने गुरु के प्रति जो भक्ति और प्रेम दर्शाया, वह उनकी कई रचनाओं में परिलक्षित होता है। गुरु-शिष्य की यह अनूठी जोड़ी भारतीय सूफीवाद के इतिहास में प्रेम, त्याग और आध्यात्मिक संबंध का सर्वोच्च उदाहरण मानी जाती है। खुसरो ने अपने साहित्यिक करियर की शुरुआत मात्र नौ साल की उम्र में कर दी थी और जल्द ही उन्हें दिल्ली के शाही दरबारों में प्रवेश मिल गया।

उनके जीवन का सबसे अद्भुत पहलू यह है कि उन्होंने दिल्ली सल्तनत के सात अलग-अलग सुल्तानों बलवन, कैकुबाद, जलालुद्दीन खिलजी, अलाउद्दीन खिलजी, मुबारक शाह खिलजी, खुसरो खान और ग़ियासुद्दीन तुगलक के संरक्षण में काम किया। उन्होंने प्रत्येक सुल्तान के लिए महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और प्रशस्तिपरक रचनाएँ लिखीं।

उनके प्रमुख साहित्यिक कार्य व्यापक रूप से फारसी में हैं, जिनमें शामिल हैं:

1. **ऐतिहासिक मसनवी:**
   - **किरान-उस-सदैन:** बलवन के बेटे बुगरा खान और पोते कैकुबाद के मिलन का आँखों देखा हाल।
   - **मिफताह-उल-फुतूह:** जलालुद्दीन खिलजी की सैन्य सफलताओं का वर्णन।
   - **खज़ा'इन-उल-फुतूह:** अलाउद्दीन खिलजी के दक्कन और गुजरात विजय अभियानों का विस्तृत गद्य इतिहास। इसे 'तारीख-ए-अलाई' भी कहते हैं।
   - **नुह सिपिहर:** मुबारक शाह खिलजी के शासनकाल के दौरान भारत की प्रशंसा में लिखा गया एक भव्य काव्य, जिसमें खुसरो ने भारतीय भाषा, रीति-रिवाज, ज्ञान-विज्ञान और जलवायु की महिमा का वर्णन किया है। यह भारत के प्रति उनके प्रेम का साहित्यिक घोषणापत्र है।
2. **पाँच दीवान:** खुसरो ने अपनी अलग-अलग उम्र में पाँच दीवानों की रचना की तुहफ़त-उस-सिग्र (किशोरावस्था), वस्त-उल-हयात (यौवन), ग़ुर्रत-उल-कमाल (प्रौढ़ावस्था), बक़िया-ए-नक़िया (परिपक्वता), और निहायत-उल-कमाल (उत्तरार्द्ध)। इन दीवानों में हज़ारों ग़ज़लें, रुबाइयाँ और कसीदे शामिल हैं, जो फारसी सूफ़ी काव्य की उत्कृष्टता का उदाहरण हैं।

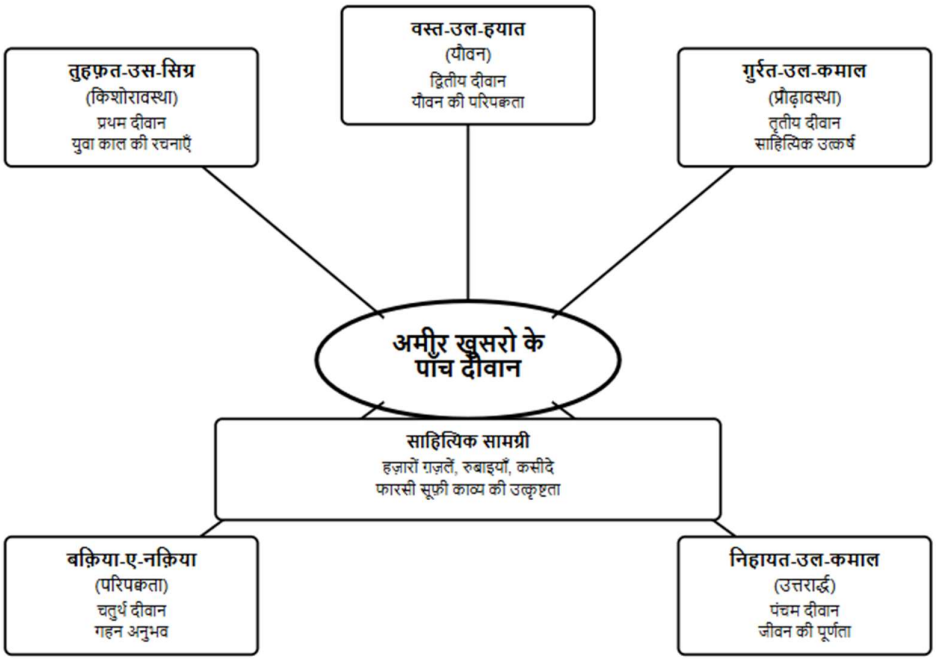

चित्र 1.8: अमीर खुसरो के पाँच दीवानों

इन फारसी कार्यों के माध्यम से, खुसरो ने इतिहास को कविता की गरिमा दी और कविता को इतिहास का आधार दिया। उनकी बहुमुखी साहित्यिक यात्रा एक दरबारी कवि से कहीं अधिक, एक ऐसे प्रबुद्ध लेखक की यात्रा थी जिसने अपनी कलम को सत्य, सौंदर्य और सांस्कृतिक मेल-जोल के लिए समर्पित किया।

फारसी और हिन्दवी में खुसरो की काव्य शैली

अमीर खुसरो की काव्य शैली उनके दोहरे साहित्यिक व्यक्तित्व का परिणाम है। एक ओर उन्होंने फारसी की परिष्कृत और शास्त्रीय परंपरा को अपनाया, तो दूसरी ओर उन्होंने हिन्दवी की लोक-परंपरा को एक नई पहचान दी। उनकी शैली में मौलिकता, सरलता और प्रयोगधर्मिता का अद्भुत संगम देखने को मिलता है।

फारसी काव्य शैली: फारसी में खुसरो की शैली उच्च साहित्यिक मानकों पर आधारित थी। उन्होंने फारसी के महान कवि निजामी गंजवी की 'खम्सा' (पाँच मसनवियों का संग्रह) की तर्ज पर अपनी 'खम्सा-ए-खुसरो' की रचना की। इस शैली की प्रमुख विशेषताएँ थीं:

1. **शास्त्रीयता और अलंकार:** फारसी ग़ज़लों, कसीदों और मसनवियों में उन्होंने शास्त्रीय फारसी शब्दावली, जटिल रूपक, उपमाओं और अलंकारों का प्रयोग किया। उनका भाव गंभीर, रहस्यमय और सूफी प्रेम से ओत-प्रोत होता था।
2. **माधुर्य (शिरिन):** उनकी ग़ज़लों में दरबारी भव्यता के साथ-साथ एक सहज माधुर्य और प्रवाहमयता थी, जो उन्हें निजामी और सादी जैसे कवियों से अलग करती है। वे प्रेम, विरह, और आध्यात्मिक रहस्योद्घाटन को अत्यंत कुशलता से व्यक्त करते थे।
3. **भारत की प्रशंसा:** खुसरो की सबसे मौलिक stylistic विशेषता यह थी कि उन्होंने फारसी काव्य में पहली बार भारतीय तत्वों और शब्दावली को प्रमुखता से शामिल किया। उन्होंने 'नुह सिपिहर' में भारतीय भाषाओं, वनस्पतियों, प्राणियों, और ज्ञान-विज्ञान की प्रशंसा करते हुए, फारसी कविता में एक भारतीय परिप्रेक्ष्य का निर्माण किया। उन्होंने अपने एक दीवान में फारसी और हिन्दवी की शब्दावली को मिलाकर 'ज़बान-ए-ख़ुसरो' (खुसरो की भाषा) का प्रयोग किया, जो भाषाई मिश्रण का एक शुरुआती उदाहरण था।

हिन्दवी (खड़ी बोली) काव्य शैली: खुसरो की हिन्दवी शैली फारसी शैली के बिल्कुल विपरीत है। यह शैली लोक-संवेदना, सरलता और मौखिक परंपरा पर आधारित है। इसे उन्होंने दरबारों के लिए नहीं, बल्कि आम जनता के मनोरंजन और शिक्षा के लिए रचा।

1. **लोकभाषा का प्रयोग:** उन्होंने जानबूझकर ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जो दिल्ली और उसके आसपास बोली जाने वाली खड़ी बोली के करीब थी। यह उनकी सबसे बड़ी भाषाई क्रांति थी, क्योंकि इससे पहले लोकभाषा को साहित्यिक रचना के लिए अपर्याप्त माना जाता था। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश से विकसित हो रही स्थानीय भाषा को पहली बार कविता के माध्यम से साहित्यिक मंच पर स्थापित किया।
2. **विनोद और सहजता:** पहेलियों और मुकरियों में उनकी शैली अत्यंत सहज, विनोदपूर्ण और चंचल है। उन्होंने आम जीवन के विषयों चक्की, दीपक, जूता, ढोल, कुआँ को चुना और उन्हें कविता का विषय बनाया।

3. **द्विभाषिक प्रयोग:** उनकी कुछ रचनाएँ, जिन्हें दोरसुखन या दोसुखने (दो भाषाओं वाली कविता) कहा जाता है, उनमें एक पंक्ति फारसी में और दूसरी हिन्दवी में होती थी। यह शैली न केवल उनकी भाषाई निपुणता दर्शाती है, बल्कि दो संस्कृतियों को जोड़ने की उनकी प्रबल इच्छा को भी प्रदर्शित करती है। उदाहरणार्थ:
   - *ज़े हाल-ए मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल, दुराए नैना बनाए बतियां।* (फारसी और ब्रजभाषा का मिश्रण)

इस प्रकार, खुसरो की काव्य शैली फारसी में गंभीर, शास्त्रीय और अलंकृत थी, जबकि हिन्दवी में यह सरल, लोकधर्मी और लोकोन्मुख थी, जो भारतीय साहित्य में भाषाई उदारता और लोकतांत्रिक चेतना का सूत्रपात करती है।

लोकप्रिय हिन्दवी रचनाएँ: पहेलियाँ, मुकरियाँ और दोहे और काव्य शैली

अमीर खुसरो की हिन्दवी रचनाएँ ही वह आधारशिला हैं जिस पर आधुनिक हिंदी और उर्दू साहित्य का भवन खड़ा है। उनकी ये रचनाएँ लोक साहित्य के रूप में लोकप्रिय हुईं और मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी चलीं, जिसने उन्हें अमर बना दिया। खुसरो ने इन लोक शैलियों को न केवल अपनाया, बल्कि उनमें साहित्यिक चमक भी जोड़ी।

पहेलियाँ:

खुसरो की पहेलियाँ उनकी हास्यवृत्ति और आम जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण हैं। पहेलियों का उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ बुद्धि की परीक्षा करना भी होता है। खुसरो ने दैनिक जीवन की वस्तुओं और क्रियाओं को अपनी पहेलियों का विषय बनाया।

- **संरचना और शैली:** पहेलियों की शैली अत्यंत सीधी, सरल और जिज्ञासापूर्ण होती है। वे प्रायः छोटी, तुकान्त पंक्तियों में रची जाती हैं और उनका उत्तर अक्सर एक ही शब्द में होता है। खुसरो ने पहेलियों में ऐसी शब्दावली का प्रयोग किया जो उस समय के साधारण लोगों की समझ में आसानी से आ जाए, जिससे उनकी पहुँच और लोकप्रियता बढ़ी।

उदाहरण और महत्व:

- *"एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा। चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे।"*

खुसरो ने पहेलियों के माध्यम से लोक साहित्य को एक नई दिशा दी और यह सिद्ध किया कि गंभीर काव्य के अतिरिक्त लोक मनोरंजन की विधाएँ भी साहित्यिक महत्व रखती हैं।

मुकरियाँ:

मुकरियाँ खुसरो की एक अत्यंत अनूठी और मौलिक विधा है। यह पहेली का ही एक विशेष रूप है, जिसमें अंत में मुखर जाना या इनकार कर देना निहित होता है।

- **संरचना और शैली:** मुकरियाँ चार छोटी पंक्तियों की होती हैं। पहली तीन पंक्तियाँ किसी वस्तु या व्यक्ति का ऐसा वर्णन करती हैं कि पाठक भ्रमित होकर किसी अन्य परिचित वस्तु (विशेषकर प्रियतम या साजन) का अनुमान लगाता है। चौथी पंक्ति में, कवि उस अनुमान का खंडन करते हुए सही उत्तर बता देता है, और इस खंडन (मुकर जाने) के कारण ही इसे मुकरी कहा जाता है।

उदाहरण और महत्व:

- *"रात समय वह मेरे आवे, भोर भये वह घर उठ जावे। यह अचरज है सबसे न्यारा, ए सखि साजन? ना सखि तारा।"*

मुकरियाँ काव्यात्मक चुहल और वाक्चातुर्य का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें स्त्री-पुरुष संवाद का पुट है, जहाँ एक 'सखी' सवाल करती है और दूसरी 'सखी' जवाब देती है। यह शैली खुसरो की हाजिरजवाबी और तत्कालीन समाज में महिलाओं के बीच प्रचलित 'बोलियों' के प्रति उनके गहरे लगाव को दर्शाती है। मुकरियाँ हिन्दवी को चंचल, गतिशील और लोक-संवादी बनाने में सबसे आगे रहीं।

दोहे:

खुसरो ने दोहा (दो पंक्तियों का छंद) विधा का भी भरपूर उपयोग किया। दोहे भारतीय साहित्य की एक प्राचीन विधा है, जिसे उन्होंने फारसी छंदों की परंपरा से मुक्त रखा।

- **संरचना और शैली:** खुसरो के दोहे आम तौर पर नीतिपरक, भक्तिपरक या प्रेमपरक होते हैं। उनकी शैली सीधी, संक्षेप और गहरी अर्थवत्ता वाली होती है, जो जनसामान्य को सीधे प्रभावित करती है।

उदाहरण और महत्व:

- *"खुसरो दरिया प्रेम का, उलटी वाकी धार। जो उतरा सो डूब गया, जो डूबा सो पार।"*
- *"गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस। चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस।"*

खुसरो की इन हिन्दवी रचनाओं ने यह स्थापित किया कि उच्च कोटि का साहित्य फारसी के साथ-साथ स्थानीय बोलचाल की भाषा में भी रचा जा सकता है। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दवी को साहित्यिक प्रतिष्ठा दिलाकर हिंदी भाषा के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ लाया। उनका काव्य सरल, सुबोध और सांस्कृतिक रूप से समावेशी होने के कारण आज भी लोकजीवन में जीवित है।

संगीत और सांस्कृतिक समन्वय में खुसरो की देन

अमीर खुसरो का योगदान केवल साहित्य तक सीमित नहीं था; वह भारतीय संगीत के इतिहास के भी एक क्रांतिकारी थे। उनका संगीत संबंधी ज्ञान और प्रयोगधर्मिता ने मध्यकालीन भारतीय संगीत को स्थायी रूप से बदल दिया।

संगीत नवप्रवर्तन:

खुसरो ने भारतीय और फारसी संगीत प्रणालियों के संगम से कई नई शैलियों और उपकरणों का आविष्कार किया, जिससे संगीत के क्षेत्र में सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त हुआ।

1. **कव्वाली का जन्म:** खुसरो को कव्वाली (सूफी संगीत की एक गायन शैली) का जनक माना जाता है। उन्होंने भारतीय *ध्रुपद* (शुद्ध शास्त्रीय गायन शैली) को फारसी और अरबी की *नक्श* और *गुल* शैलियों के साथ मिश्रित करके एक नई, तालबद्ध और सामूहिक गायन शैली को जन्म दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक आनंद और गुरु की प्रशंसा करना था। कव्वाली आज भी दक्षिण एशिया में सूफी धर्म का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।
2. **रागों का मिश्रण:** उन्होंने कई नए रागों (संगीत के मोड) की रचना की, जिन्हें मिश्रित राग कहा जाता है। उदाहरण के लिए, उन्होंने भारतीय रागों को फारसी मुकामों के साथ मिलाकर ज़िल्ह (राग पूर्वी और राग खुसरो), साजगिरी, सरपर्दा और यमन कल्याण जैसे लोकप्रिय रागों को जन्म दिया। 'यमन' (फारसी/तुर्की) और 'कल्याण' (भारतीय) का मिश्रण उनके समन्वयात्मक दृष्टिकोण का सीधा प्रमाण है।
3. **वाद्य यंत्रों का आविष्कार/विकास:**
   - **सितार:** व्यापक रूप से यह माना जाता है कि खुसरो ने भारतीय वीणा और ईरानी तंबूर को मिलाकर सितार (फारसी में 'सेह-तार' यानी तीन तार) नामक वाद्य यंत्र का विकास किया। यह वाद्य आज भारतीय शास्त्रीय संगीत का पर्याय है।

चित्र 2.9: सितार

- **तबला:** यह भी माना जाता है कि उन्होंने भारतीय वाद्य पखावज (एक प्रकार का मृदंग) को बीच से काटकर, या उसके गुणों को फारसी दमामा या दुपर्दा के साथ मिलाकर, तबला नामक ताल वाद्य का आविष्कार किया।

चित्र 2.9: तबला

सांस्कृतिक समन्वय का प्रतीक:

खुसरो ने अपने संगीत और साहित्य दोनों में यह सिद्ध किया कि भाषा और संस्कृति की दीवारें केवल कृत्रिम हैं। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने गर्व के साथ यह घोषित किया कि भारतीय संस्कृति और ज्ञान किसी भी अन्य सभ्यता से कम नहीं है। उन्होंने भारत को "फिरदौस" (स्वर्ग) कहकर संबोधित किया। अपनी रचनाओं में उन्होंने हिन्दवी (स्थानीय बोलियाँ), तुर्की, फारसी और संस्कृत को एक साथ मिलाया। उनका उद्देश्य शासक वर्ग और शासित वर्ग के बीच की खाई को पाटना था। उनके सूफी गुरु निज़ामुद्दीन औलिया द्वारा प्रेम, भाईचारे और सादगी पर दिया गया जोर, खुसरो के संगीत और कविताओं में पूरी तरह से घुलमिल गया। उनकी रचनाएँ हिंदू त्योहारों,

रीति-रिवाजों और लोक-कथाओं से भरी हुई हैं, जो यह दर्शाती हैं कि उन्होंने भारतीय जीवनशैली को कितनी गहराई से आत्मसात किया था।

संक्षेप में, अमीर खुसरो केवल एक दरबारी मनोरंजनकर्ता नहीं थे, बल्कि एक ऐसे सांस्कृतिक दूत थे जिन्होंने अपनी कला के माध्यम से भारत को एक बहुलवादी, समावेशी और समकालिक राष्ट्र बनने में मदद की, जहाँ सभी धर्म, भाषाएँ और कला रूप एक-दूसरे के साथ सद्भाव में सह-अस्तित्व में रह सकते थे। उनका जीवन और कार्य आज भी भारतीयता की सच्ची भावना का प्रतिनिधित्व करता है।

इकाई 2.2: विद्यापति और उनकी पदावली

2.2.1 विद्यापति की भक्ति और श्रृंगार शैली

1. विद्यापतिकी पदावली: भक्ति और श्रृंगार का द्वंद्व

विद्यापति की पदावली में भक्ति और श्रृंगार का ऐसा अनूठा मिश्रण है कि उन्हें "श्रृंगार रस के सिद्ध कवि" कहें या "भक्त कवि," यह प्रश्न विद्वानों के बीच सदैव चर्चा का विषय रहा है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण के प्रेम को आधार बनाकर मैथिली भाषा में जो पद रचे, वे ऊपरी तौर पर तो पूर्णतः लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति प्रतीत होते हैं, जहाँ राधा एक नवयौवना नायिका है और कृष्ण एक चतुर नायक। हालाँकि, वैष्णव भक्तों और गौड़ीय संप्रदाय के आचार्यों ने इन पदों को माधुर्य भाव की भक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण माना। उनका मत है कि राधा-कृष्ण का प्रेम केवल मनुष्य के हृदय को सांसारिक रूप से आकर्षित करने के लिए एक माध्यम है, जिसके द्वारा आत्मा (राधा) का परमात्मा (कृष्ण) के प्रति नैसर्गिक आकर्षण और मिलन की तड़प व्यक्त होती है। यह द्वंद्व ही विद्यापति की रचनाओं का मूल सौंदर्य है, जो उन्हें जयदेव के *गीत गोविंद* की परंपरा से जोड़ता है, पर उनमें एक विशिष्ट स्थानीय मिठास भर देता है। इन पदों में लौकिक प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति है, लेकिन इसकी परिणति अंततः आत्मिक समर्पण और ईश्वरीय आनंद की ओर होती है।

2. राधा-कृष्ण: लौकिक और अलौकिक प्रेम का समन्वय

विद्यापति के पदों में राधा और कृष्ण केवल पौराणिक या धार्मिक चरित्र नहीं हैं; वे एक आदर्श प्रेमी युगल के रूप में चित्रित हुए हैं। कृष्ण यहाँ लीलामय, आकर्षक, बाँसुरी वादक, और मनोहारी हैं, जबकि राधा नवयौवन से भरी, चंचल, संकोची और प्रेम में अधीर नायिका हैं। विद्यापति ने राधा के रूप वर्णन, उसके प्रथम अनुराग, उसकी सखी से गुप्त वार्तालाप, और उसके विरह की प्रत्येक मानवीय स्थिति का वर्णन किया है। यह लौकिक चित्रण इतना सजीव और भावपूर्ण है कि सामान्य जन भी इससे आसानी से जुड़ जाते हैं। यहीं पर कला का अलौकिक आयाम जुड़ता है। वैष्णव आचार्यों के लिए, राधा जीवात्मा का प्रतीक है जो परमात्मा (कृष्ण) से मिलने को आतुर है, और इस मिलन की लौकिक बाधाएँ और सुख-दुःख जीवात्मा की आध्यात्मिक यात्रा की ही

चरणबद्धता हैं। इस प्रकार, कवि ने लौकिक प्रेम की गहराई में अलौकिक भक्ति की राह दिखाई है।

चित्र 2.4: राधा-कृष्ण: लौकिक और अलौकिक प्रेम का समन्वय

3. श्रृंगार का स्वरूप: संयोग और वियोग

विद्यापति की पदावली में श्रृंगार रस प्रमुख है, जिसे उन्होंने संयोग (मिलन) और वियोग (विरह) दोनों ही पक्षों में पूर्णता से व्यक्त किया है। संयोग श्रृंगार के पदों में राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन, अभिसार (गुप्त भेंट), और आनंदमय क्रीड़ाओं का चित्रण है। ये वर्णन अत्यंत मनोरम और इंद्रिय-सुखद होते हैं, जिनमें राधा के रूप-सौंदर्य और उसके हाव-भाव पर विशेष ध्यान दिया गया है। इन पदों में कवि की निरीक्षण शक्ति और चित्रात्मक भाषा का उत्कृष्ट प्रयोग देखने को मिलता है। दूसरी ओर, विप्रलंभ श्रृंगार (वियोग) के पद अत्यंत मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं। राधा के विरह की पीड़ा, उसकी बेचैनी, आँसू और कृष्ण के प्रति उसकी अनवरत प्रतीक्षा का चित्रण कवि ने बड़ी संवेदनशीलता से किया है। विरह के पदों में प्रेम की गहराई और तीव्रता का अनुभव होता है, जो भौतिकता से ऊपर उठकर एक गहरी भावनात्मक और आत्मिक जुड़ाव की ओर संकेत करता है।

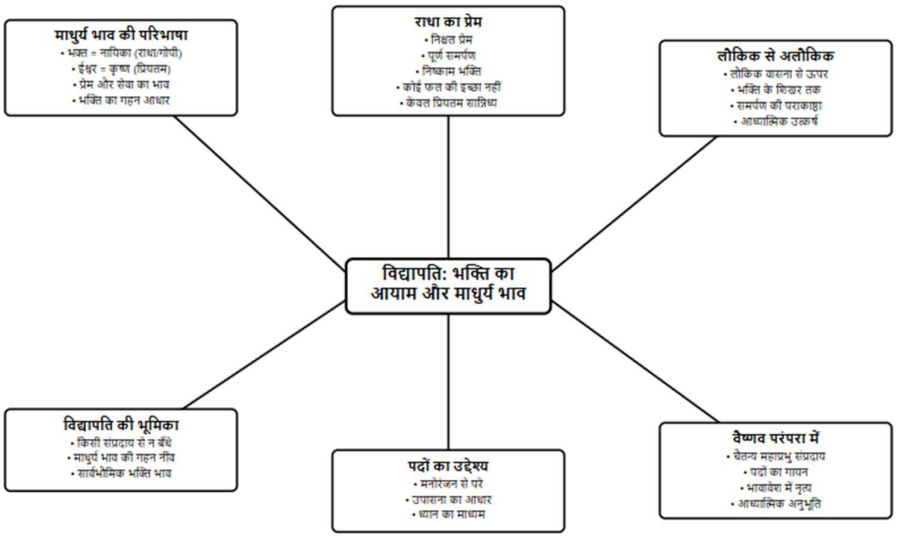

चित्र 2.5: विद्यापति के भक्ति आयाम और माधुर्य भाव

4. भक्ति का आयाम: समर्पण और माधुर्य भाव

यद्यपि विद्यापति ने स्वयं को किसी विशेष भक्ति संप्रदाय का अनुयायी घोषित नहीं किया, उनकी रचनाओं में माधुर्य भाव की भक्ति की गहन नींव दिखाई देती है। माधुर्य भाव में भक्त स्वयं को नायिका (राधा की सखी या गोपी) मानकर ईश्वर (कृष्ण) के प्रति प्रेम और सेवा का भाव रखता है। विद्यापति के पदों में राधा का कृष्ण के प्रति जो निश्चल प्रेम और पूर्ण समर्पण है, वह यही माधुर्य भाव है। राधा का प्रेम निष्काम है, जिसमें किसी फल की इच्छा नहीं है, केवल प्रियतम की प्रसन्नता और सान्निध्य ही अभीष्ट है। यह समर्पण ही लौकिक वासना से ऊपर उठकर भक्ति के शिखर को छूता है। विद्यापति के पद केवल मनोरंजन का साधन न होकर, वैष्णव भक्तों के लिए उपासना और ध्यान का आधार बने, विशेषकर चैतन्य महाप्रभु के संप्रदाय में, जहाँ इन पदों को गाकर भावावेश में नृत्य किया जाता था।

5. मैथिली भाषा की मिठास और गेयता

विद्यापति की शैली का एक महत्वपूर्ण अंग उनकी भाषा है मैथिली (जिसे वे स्वयं "देसिल बयना" या देसी बोली कहते थे)। यह भाषा संस्कृत की तत्समता और स्थानीय प्राकृत तथा अपभ्रंश के तत्वों का एक सुंदर मेल है। मैथिली की स्वाभाविक मिठास

और ध्वनि सौंदर्य ने उनके शृंगारिक भावों को अत्यंत कोमलता प्रदान की है। पदावली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी गेयता है। ये पद विभिन्न राग-रागिनियों में बँधे हुए हैं और इनका गायन आज भी लोक-संगीत और शास्त्रीय संगीत दोनों में किया जाता है। भाषा की सरलता, मधुरता और लयबद्धता ने उनके जटिल भावों को भी सुगम बना दिया है। यही कारण है कि विद्यापति को 'मैथिल कोकिल' की उपाधि प्राप्त हुई। उनकी भाषा में एक ऐसी चित्ताकर्षक शैली है जो सीधे हृदय को स्पर्श करती है।

2.2.2 प्रमुख पद और विषय: पदों का विश्लेषण और विषयवस्तु

1. पूर्वराग और प्रथम दर्शन के पद

पदावली का एक बड़ा हिस्सा पूर्वराग (प्रेम होने से पहले का आकर्षण) और प्रथम दर्शन के अनुभवों पर केंद्रित है। इन पदों में राधा का वह आंतरिक मंथन चित्रित है जब वह पहली बार कृष्ण को देखती है। नायिका अचानक यौवन की दहलीज पर खड़ी होती है और अपरिचित प्रेम की भावना से भयभीत और उत्साहित दोनों है। उदाहरण विश्लेषण: एक प्रसिद्ध पद में राधा की सखी कृष्ण के रूप का वर्णन राधा से करती है, जिससे राधा के मन में अनुरक्ति पैदा होती है। प्रथम दर्शन के बाद राधा की दशा ऐसी हो जाती है कि वह न चैन पाती है और न ही अपनी सखी से कुछ कह पाती है। कवि ने संकोच, हर्ष, विस्मय और लज्जा के मिश्रित भावों का ऐसा चित्रण किया है कि वह मनोविज्ञान का सुंदर उदाहरण बन जाता है। ये पद प्रेम के आगमन की अवस्था को दर्शाते हैं।

2. अभिसार और मिलन के पद: संयोग शृंगार

संयोग शृंगार के अंतर्गत, अभिसार (प्रियतम से मिलने के लिए गुप्त रूप से जाना) एक प्रमुख विषय है। विद्यापति ने अंधेरी रात, काँटेदार पथ और बादलों की गर्जना जैसे प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग अभिसार के लिए किया है, जिससे नायिका की निडरता और प्रेम की प्रबलता सिद्ध होती है। एक पद में राधा रात्रि में कृष्ण से मिलने जा रही है, और कवि वर्णन करते हैं कि बिजली की चमक में उसके वस्त्र और आभूषण क्षण भर के लिए चमक उठते हैं, जिससे उसकी सुंदरता और भी विचित्र लगती है। इन पदों की विषयवस्तु में नायक-नायिका का प्रथम वार्तालाप, प्रेम क्रीड़ा, और मिलन के

उपरान्त पुलक और संतोष का भाव प्रमुख है। ये पद लौकिक आनंद की पराकाष्ठा को दर्शाते हुए भी, आध्यात्मिक मिलन की उत्कटता को व्यक्त करते हैं।

3. विप्रलंभ शृंगार: विरह और प्रतीक्षा

विद्यापति के विप्रलंभ शृंगार के पद अत्यंत उच्च कोटि के हैं और उनकी संवेदनशीलता का प्रमाण हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने या अन्य किसी कारण से अनुपस्थित होने पर राधा की विरह-दशा का मार्मिक चित्रण किया गया है। उदाहरण विश्लेषण: "सखी हे, हमर दुखक नहिं ओर" (सखी, मेरे दुःख का कोई अंत नहीं) जैसे पदों में राधा की पीड़ा व्यक्त होती है, जहाँ वह प्रकृति की हर सुंदर वस्तु में अपने प्रियतम की अनुपस्थिति महसूस करती है। कवि विरह की दस दशाओं (चिंता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, व्याधि आदि) में से अनेक का वर्णन करते हैं। राधा का दुबला होना, नींद खो देना, और लगातार आँसू बहाना ये सभी चित्रण विरह की मानवीय सत्यता को स्थापित करते हैं। ये पद प्रेम की स्थायिता और उसकी आध्यात्मिक गहराई को सिद्ध करते हैं।

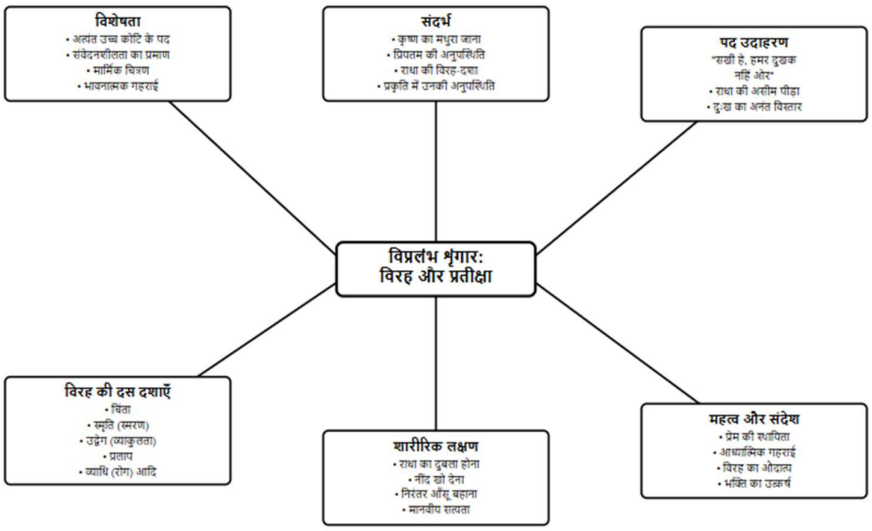

चित्र 2.5: विप्रलंभ शृंगार (विरह और प्रतीक्षा)

4. किशोरी राधा का चित्रण: नवयौवन का उदय

विद्यापति की राधा का चरित्र-चित्रण केवल प्रेमिका का नहीं, बल्कि एक किशोरी का है जो अभी-अभी यौवन की दहलीज पर कदम रख रही है। यह विषयवस्तु विद्यापति को

अन्य कवियों से अलग करती है। उन्होंने राधा के बाल्य और यौवन के संधि काल का अत्यंत सूक्ष्म और सुंदर वर्णन किया है। उदाहरण विश्लेषण: एक पद में राधा की सखी माता से शिकायत करती है कि राधा के शरीर में अचानक परिवर्तन आ गए हैं, उसका व्यवहार बदल गया है, और अब वह घर के कामों में मन नहीं लगाती। यह पद उस समय के सामाजिक बंधन और राधा के भीतर उठ रहे नैसर्गिक भावों के टकराव को दर्शाता है। किशोरी राधा का यह चित्रण केवल शारीरिक नहीं है, बल्कि उसके मन की अज्ञानता, चंचलता और भोलेपन को भी उजागर करता है, जिससे वह प्रेम के लिए और भी अधिक प्यारी बन जाती है।

5. संदेश और दूती-प्रथा का विधान

पदावली की विषयवस्तु में संदेश भेजने और दूती (संदेशवाहक सखी) का प्रयोग एक महत्वपूर्ण साहित्यिक विधान है। विरह की स्थिति में राधा अपनी सखी या किसी अन्य माध्यम से कृष्ण तक अपना संदेश पहुँचाती है। उदाहरण विश्लेषण: दूती के माध्यम से संदेश भेजना केवल कथानक को आगे बढ़ाने का माध्यम नहीं है, बल्कि यह नायक-नायिका के बीच के विश्वास और सखी की भूमिका को भी दर्शाता है। दूती राधा की पीड़ा का विस्तृत वर्णन कृष्ण के समक्ष करती है, उन्हें राधा के पास लौटने के लिए प्रेरित करती है, और कभी-कभी तो वह कृष्ण को उनके कर्तव्य और प्रेम की गंभीरता की याद भी दिलाती है। इन पदों में संवाद शैली का उत्कृष्ट उपयोग हुआ है, जो पात्रों के मनोभावों को प्रभावी ढंग से व्यक्त करता है। यह दूती-प्रथा, प्रेम की सामाजिक स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों के मध्य एक सेतु का कार्य करती है।

इस प्रकार, विद्यापति की पदावली भक्ति और श्रृंगार के दो अलग-अलग रंगों को मिलाकर एक ऐसा इंद्रधनुष बनाती है, जहाँ लौकिक सौंदर्य आध्यात्मिक प्रेम की ओर संकेत करता है, और गेयता तथा भाषा की मधुरता इसे शाश्वत बना देती है।

2.3 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

2.3.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अमीर खुसरो किस काल के कवि थे?

क) आदिकाल

ख) भक्तिकाल

ग) रीतिकाल

घ) आधुनिक काल

2. अमीर खुसरो किस भाषा के विद्वान थे?

क) केवल हिन्दी

ख) हिन्दी, फारसी और अरबी

ग) केवल संस्कृत

घ) केवल फारसी

3. अमीर खुसरो के गुरु कौन थे?

क) कबीरदास

ख) निजामुद्दीन औलिया

ग) रामानंद

घ) गोरखनाथ

4. विद्यापति किस भाषा के कवि थे?

क) ब्रज भाषा

ख) अवधी

ग) मैथिली

घ) खड़ी बोली

5. विद्यापति की पदावली का मुख्य विषय क्या है?

क) वीरता

ख) राधा-कृष्ण का प्रेम

ग) समाज सुधार

घ) नीति

6. अमीर खुसरो ने किस प्रकार की रचनाएँ लिखीं?

क) केवल भक्ति काव्य

ख) पहेलियाँ, मुकरियाँ, दोहे

ग) केवल महाकाव्य

घ) केवल नाटक

7. विद्यापति को किस उपाधि से जाना जाता है?

क) कविराज

ख) महाकवि

ग) अभिनव जयदेव

घ) कवीश्वर

8. अमीर खुसरो का जन्म कहाँ हुआ था?

क) दिल्ली

ख) पटियाली (एटा, उत्तर प्रदेश)

ग) आगरा

घ) लखनऊ

9. विद्यापति की पदावली में किस रस की प्रधानता है?

क) वीर रस

ख) शांत रस

ग) श्रृंगार रस

घ) करुण रस

10. अमीर खुसरो को किस संगीत वाद्य यंत्र का जनक माना जाता है?

क) सितार

ख) तबला

ग) सारंगी

घ) बाँसुरी

2.3.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अमीर खुसरो के साहित्यिक योगदान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. विद्यापति की पदावली की मुख्य विशेषताएँ बताइए।

3. अमीर खुसरो की हिन्दी कविता में लोक तत्व का वर्णन कीजिए।
4. विद्यापति की भक्ति भावना पर संक्षेप में लिखिए।
5. अमीर खुसरो की काव्य शैली की विशेषताएँ बताइए।

2.3.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अमीर खुसरो के जीवन और साहित्यिक योगदान का विस्तृत परिचय दीजिए।
2. विद्यापति की पदावली का विस्तार से परिचय देते हुए उनकी भक्ति और श्रृंगार शैली पर प्रकाश डालिए।
3. अमीर खुसरो की हिन्दी कविता की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए। उदाहरण सहित समझाइए।
4. विद्यापति और जयदेव की पदावली में तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
5. आदिकाल में अमीर खुसरो और विद्यापति के महत्व पर विस्तृत निबंध लिखिए।

उत्तर-कुंजी:

क) आदिकाल

ख) हिन्दी, फारसी और अरबी

ख) निजामुद्दीन औलिया

ग) मैथिली

ख) राधा-कृष्ण का प्रेम

ख) पहेलियाँ, मुकरियाँ, दोहे

ग) अभिनव जयदेव

ख) पटियाली (एटा, उत्तर प्रदेश)

ग) श्रृंगार रस

क) सितार

मॉड्यूल 3
भक्ति आंदोलन का परिचय

संरचना

इकाई: 3.1 भक्तिकाल की सामान्य विशेषताएँ

इकाई: 3.2 भक्ति आंदोलन के उदय के कारण

इकाई: 3.3 प्रमुख भक्ति धाराएँ

इकाई: 3.4 निर्गुण और सगुण भक्ति

3.0 उद्देश्य

- भक्ति आंदोलन की विशेषताओं को समझना
- साहित्यिक शैली और सामाजिक प्रभाव का अध्ययन
- भक्तिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों को जानना
- भक्ति आंदोलन के सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों को समझना
- धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन
- भक्ति आंदोलन की आवश्यकता को जानना
- विभिन्न भक्ति धाराओं का परिचय
- वैष्णव, शैव और सन्त परंपराओं को समझना
- भक्ति धाराओं की विशेषताओं का अध्ययन
- निर्गुण और सगुण भक्ति के अंतर को समझना
- दोनों धाराओं की शाखाओं का परिचय
- प्रमुख कवियों और उनकी रचनाओं का अध्ययन

इकाई 3.1: भक्तिकाल की सामान्य विशेषताएँ

3.1.1 भक्ति आंदोलन की उद्देश्यपूर्ण विशेषताएँ

1. भक्ति आंदोलन: पृष्ठभूमि और उदय

भक्ति आंदोलन भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और परिवर्तनकारी दौर था, जिसका उदय मुख्य रूप से सातवीं शताब्दी के आस-पास दक्षिण भारत में हुआ और यह 15वीं से 17वीं शताब्दी के बीच उत्तर भारत में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा।

यह आंदोलन सिर्फ एक धार्मिक सुधार नहीं था, बल्कि एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति थी जिसने समाज के प्रत्येक वर्ग विशेषकर दलितों और महिलाओं को आत्मिक स्वतंत्रता और समानता का मार्ग दिखाया। इस आंदोलन की पृष्ठभूमि तत्कालीन जटिल सामाजिक संरचना, कर्मकांडों की बढ़ती प्रधानता, और विदेशी आक्रमणों के कारण उत्पन्न असुरक्षा के वातावरण में निहित थी। मध्यकाल तक आते-आते, भारतीय धर्म और समाज ब्राह्मणवादी कर्मकांडों और जातिगत विभाजनों के भारी बोझ तले दब चुका था। धर्म केवल पुरोहित वर्ग की संपत्ति बन गया था, और आम जनता को ईश्वर तक पहुँचने के लिए जटिल और महंगे अनुष्ठानों का सहारा लेना पड़ता था।

इस धार्मिक जड़ता और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध, भक्ति आंदोलन ने एक सरल, सहज और व्यक्तिगत धार्मिक मार्ग प्रस्तुत किया। इसका मूल संदेश यह था कि ईश्वर की प्राप्ति किसी मंदिर, अनुष्ठान या पुरोहित के माध्यम से नहीं, बल्कि प्रेम, श्रद्धा, और निष्ठा से की गई एकनिष्ठ भक्ति से संभव है। इस आंदोलन ने उस समय के शासक वर्गों द्वारा फैलाए गए धार्मिक भेद और समाज में व्याप्त ऊँच-नीच की भावना को सीधे चुनौती दी। विभिन्न संत और सुधारक, जैसे कि दक्षिण में अलवार और नयनार संतों से लेकर उत्तर में कबीर, नानक, सूरदास, और तुलसीदास तक, ने लोगों को उनकी अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में भक्ति के इस सरल मार्ग का उपदेश दिया। यह आंदोलन जनता के लिए धर्म की वापसी थी, जिसने उन्हें अपनी भाषा, अपने गीत और अपनी सरल उपासना पद्धति के माध्यम से ईश्वर से सीधा संबंध स्थापित करने का अधिकार दिया। इस प्रकार, भक्ति आंदोलन भारतीय धार्मिक और सामाजिक इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात था, जिसने आध्यात्मिकता को जन-जन तक पहुँचाया और मानवीय मूल्यों को पुनर्स्थापित किया।

2. भक्ति की अवधारणा और उद्देश्यपूर्ण विशेषताएँ

भक्ति आंदोलन का केंद्रीय सार 'भक्ति' की अवधारणा में निहित है, जिसका शाब्दिक अर्थ है ईश्वर के प्रति गहरा प्रेम और समर्पण। यह मार्ग वैदिक कर्मकांडों या ज्ञान मार्ग की कठोरता के विपरीत, भावनात्मक और हृदय-जनित था। भक्ति की मुख्य

अवधारणा ईश्वर और भक्त के बीच एक व्यक्तिगत और सीधा संबंध स्थापित करने पर बल देती थी, जहाँ भक्त स्वयं को ईश्वर का प्रेमी, सेवक, या मित्र मान सकता था।

भक्ति की अवधारणा और विशेषताएँ

भक्ति आंदोलन की विशेषताएँ अत्यंत उद्देश्यपूर्ण थीं, जिनका लक्ष्य केवल आध्यात्मिक उद्धार नहीं, बल्कि सामाजिक सुधार भी था:

1. **एकल ईश्वरीय सत्ता में विश्वास (एकेश्वरवाद):** अधिकांश भक्ति संतों ने एक ही परम सत्य या ईश्वर पर ज़ोर दिया। यह ईश्वर या तो सगुण (रूप, गुण और आकार सहित, जैसे राम और कृष्ण) था, या निर्गुण (निराकार, गुणहीन, केवल प्रेम द्वारा जानने योग्य, जैसे कबीर का 'राम')। इस एकेश्वरवाद ने बहुदेववाद की जटिलताओं को कम किया और धार्मिक एकता का मार्ग प्रशस्त किया।
2. **गुरु का महत्व:** भक्ति मार्ग में गुरु को ईश्वर तक पहुँचने का अनिवार्य माध्यम माना गया। गुरु भक्त को सही ज्ञान देता था, भटकाव से बचाता था और उसे सही मार्ग पर ले जाता था। यह पुरोहित वर्ग की मध्यस्थता को समाप्त करने का एक वैचारिक विकल्प था।
3. **नाम-स्मरण का महत्व:** संतों ने ईश्वर के नाम का जप (नाम-स्मरण या संकीर्तन) को सबसे सरल और सुलभ उपासना पद्धति बताया। यह किसी भी व्यक्ति, किसी भी स्थान पर और किसी भी समय किया जा सकता था, जिससे महंगे अनुष्ठानों की आवश्यकता समाप्त हो गई।
4. **जाति-भेद का विरोध और सामाजिक समानता:** यह भक्ति आंदोलन की सबसे क्रांतिकारी विशेषता थी। संतों ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि ईश्वर की नज़र में सभी मनुष्य समान हैं। कबीर, रविदास, नानक जैसे संतों ने जन्म या जाति के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को अस्वीकार किया और समाज के निचले तबके के लोगों को भी धार्मिक नेतृत्व प्रदान किया।
5. **मानवीय मूल्यों पर ज़ोर:** संतों ने सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, और सादगी जैसे नैतिक और मानवीय मूल्यों पर बल दिया। उन्होंने पाखंड, आडंबर और बाहरी दिखावे की घोर निंदा की।

6. **भाषा की सरलता (लोक भाषाओं का प्रयोग):** आंदोलन की पहुँच को व्यापक बनाने के लिए, संतों ने संस्कृत के बजाय आम बोलचाल की भाषाओं, जैसे हिंदी (अवधी, ब्रज), पंजाबी, मराठी, बंगाली, और असमिया का उपयोग किया। इससे उनका संदेश सीधे जनता के हृदय तक पहुँचा। ये विशेषताएँ भक्ति आंदोलन को एक क्रांतिकारी और जन-उन्मुख आंदोलन बनाती हैं, जिसने धर्म की परिभाषा को अनुष्ठान से निकालकर अनुभव तक पहुँचाया।

3. प्रमुख संत, धाराएँ और दार्शनिक मत

भक्ति आंदोलन को मुख्य रूप से दो प्रमुख धाराओं में विभाजित किया जाता है: निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा। हालाँकि दोनों का मूल उद्देश्य ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण था, लेकिन उनकी ईश्वर की कल्पना और दार्शनिक मत भिन्न थे।

निर्गुण भक्ति धारा

इस धारा के संत निराकार, निर्गुण, और अजन्मा ईश्वर में विश्वास करते थे, जिसका कोई विशेष रूप, रंग या अवतार नहीं है। यह ईश्वर केवल अनुभव और ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

- **प्रमुख संत:**
  - **कबीर (15वीं शताब्दी):** इन्होंने जातिवाद, कर्मकांड और धार्मिक पाखंड का तीव्र विरोध किया। उनका ईश्वर 'राम' या 'खुदा' नाम से पुकारा जाता था, लेकिन वह निराकार था। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया।
  - **गुरु नानक देव (15वीं-16वीं शताब्दी):** सिख धर्म के संस्थापक, इन्होंने 'एक ओंकार' (एक ही ईश्वर) की अवधारणा दी। उन्होंने गृहस्थ जीवन में रहते हुए ईश्वर की भक्ति और समाज सेवा का महत्व बताया।
  - **संत रविदास (15वीं शताब्दी):** ये जातिगत भेदभाव के सबसे बड़े आलोचक थे। उन्होंने आंतरिक शुद्धि और मन की पवित्रता को बाहरी अनुष्ठानों से ऊपर रखा।

सगुण भक्ति धारा

इस धारा के संत ईश्वर को सगुण, साकार, और अवतार रूप में पूजते थे। उनके लिए ईश्वर के दो प्रमुख अवतार भगवान राम और भगवान कृष्ण भक्ति का केंद्र थे।

- **प्रमुख संत (रामभक्ति शाखा):**
  - **तुलसीदास (16वीं शताब्दी):** इन्होंने 'रामचरितमानस' की रचना कर राम को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' के रूप में स्थापित किया। उन्होंने भक्ति को धर्म, नीति और समाज के साथ जोड़ने का कार्य किया, जिससे जनमानस में राम की भक्ति का प्रसार हुआ।
- **प्रमुख संत (कृष्णभक्ति शाखा):**
  - **सूरदास (16वीं शताब्दी):** इन्होंने 'सूरसागर' की रचना की, जो भगवान कृष्ण की बाल लीलाओं और राधा-कृष्ण के प्रेम पर केंद्रित है। इनकी भक्ति माधुर्य भाव पर आधारित थी और इन्होंने लोकभाषा ब्रजभाषा को साहित्यिक ऊँचाई प्रदान की।
  - **मीराबाई (16वीं शताब्दी):** राजस्थान की राजकुमारी, जिन्होंने कृष्ण को अपना पति मानकर दांपत्य भाव की भक्ति की। उनका विद्रोही प्रेम और सामाजिक रूढ़ियों का त्याग भक्ति आंदोलन में नारी शक्ति का प्रतीक बना।
- **दार्शनिक मत:** दक्षिण के आचार्यों ने भक्ति के लिए दार्शनिक आधार प्रदान किया:
  - **रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत):** उन्होंने ईश्वर (विशिष्ट ब्रह्म) को सगुण माना और मुक्ति के लिए भक्ति को अनिवार्य बताया।
  - **माधवाचार्य (द्वैतवाद):** उन्होंने ईश्वर और आत्मा को पूरी तरह से अलग माना और कृष्ण भक्ति को ही मोक्ष का साधन बताया।
  - **वल्लभाचार्य (शुद्धाद्वैत):** इन्होंने कृष्ण की बाल लीला और प्रेम को भक्ति का केंद्र बनाया और पुष्टि मार्ग की स्थापना की।

इन धाराओं और संतों ने अपनी-अपनी भाषाओं और शैलियों में भक्ति के संदेश को देश के कोने-कोने तक पहुँचाया।

4. भक्ति आंदोलन की साहित्यिक शैली

भक्ति आंदोलन की सफलता का एक बड़ा श्रेय उसकी अद्वितीय और प्रभावशाली साहित्यिक शैली को जाता है। संतों ने न केवल नए विचारों का प्रचार किया, बल्कि साहित्य के क्षेत्र में भी एक नई क्रांति ला दी।

साहित्यिकशैली और सामाजिक प्रभाव

भक्ति साहित्य की साहित्यिक शैली की विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

1. **लोकभाषाओं का प्रभुत्व:** भक्ति साहित्य ने संस्कृत के वर्चस्व को तोड़कर हिंदी, अवधी, ब्रजभाषा, पंजाबी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, बंगाली और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को साहित्य का माध्यम बनाया। इस कारण यह साहित्य सीधे आम जनता की पहुँच में आ गया। उदाहरण के लिए, कबीर ने सधुक्कड़ी भाषा (विभिन्न भाषाओं का मिश्रण) का प्रयोग किया; सूरदास ने ब्रजभाषा को शिखर पर पहुँचाया; और तुलसीदास ने अवधी में 'रामचरितमानस' की रचना की।
2. **सरल छंद और गेयता:** संतों ने दोहा, सोरठा, चौपाई, पद (भजन), और साखी जैसे सरल और संगीतमय छंदों का उपयोग किया। ये छंद आसानी से याद किए जा सकते थे और इन्हें गाया जा सकता था (गेयता)। यह गेयता ही थी जिसने भक्ति के संदेश को सामूहिक संकीर्तन और सभाओं के माध्यम से वायरल किया।
3. **प्रतीकात्मकता (सिम्बोलिज्म) और रूपक:** निर्गुण संतों ने अपने जटिल दार्शनिक विचारों को सरल बनाने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया। उदाहरण के लिए, कबीर के 'उलटबाँसी' (विपरीत कथन) और 'साखी' में आत्मा-परमात्मा के संबंध को समझाने के लिए चरखा, दुल्हन, और पानी भरने वाली गगरी जैसे रोजमर्रा के प्रतीक का प्रयोग किया गया।
4. **सीधा संवाद और निर्भीकता:** संतों की शैली अत्यंत निर्भीक, स्पष्ट और सीधी थी। उन्होंने पाखंड, जातिवाद और शासकों की नीतियों की आलोचना बिना किसी लाग-लपेट के की। उनके साहित्य में कहीं भी कृत्रिमता या अनावश्यक अलंकरण नहीं था, जिससे उनकी वाणी में विश्वसनीयता और प्रभाव झलकता था।
5. **विभिन्न रसों का समावेश:** सगुण भक्ति साहित्य, विशेषकर कृष्ण भक्ति, में श्रृंगार रस (राधा-कृष्ण प्रेम) और वात्सल्य रस (कृष्ण की बाल लीला) का अद्भुत प्रयोग

मिलता है। वहीं, रामभक्ति में शांत रस और वीर रस का समावेश है, जबकि निर्गुण भक्ति में शांत रस की प्रधानता है।

यह साहित्यिक शैली न केवल आध्यात्मिक उपदेश देने में सफल रही, बल्कि इसने इन क्षेत्रीय भाषाओं को समृद्ध कर उन्हें साहित्य और कला की दृष्टि से उच्च स्थान दिलाया।

5. भक्ति साहित्य का गहन सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव

भक्ति आंदोलन का प्रभाव केवल धार्मिक उपासना तक सीमित नहीं था; इसने भारतीय समाज, संस्कृति और यहाँ तक कि राजनीतिक सोच को भी गहराई से प्रभावित किया। भक्ति साहित्य ने एक समतामूलक समाज की नींव रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भक्ति साहित्य का समाज पर प्रभाव

1. **जातिवाद पर प्रहार और सामाजिक समरसता:** भक्ति साहित्य ने सबसे बड़ा प्रहार जाति व्यवस्था पर किया। कबीर ने कहा, "जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।" संतों ने दलित और निम्न कही जाने वाली जातियों से आने वाले लोगों (जैसे रविदास, सेना, सधना) को समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाया। मंदिरों के बजाय सत्संग और सामुदायिक बैठकों को महत्व दिया गया, जहाँ सभी जाति के लोग एक साथ बैठकर ईश्वर का नाम जपते थे।
2. **महिलाओं की स्थिति में सुधार:** भक्ति आंदोलन ने महिलाओं को धर्म में सक्रिय भूमिका निभाने का अवसर दिया। मीराबाई, सहजोबाई, और ललद्यद (कश्मीर) जैसी महिला संतों ने न केवल सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ा, बल्कि भक्ति साहित्य में स्त्री-विमर्श को भी मुखर किया। भक्ति ने उन्हें पुरोहित या पति की मध्यस्थता के बिना सीधे ईश्वर से जुड़ने की शक्ति दी।
3. **क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्य का विकास:** संतों द्वारा स्थानीय भाषाओं का प्रयोग करने से, स्थानीय साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। अवधी, ब्रजभाषा, मराठी, पंजाबी, और बंगाली जैसी भाषाएँ संस्कृत के समकक्ष साहित्यिक भाषा के रूप में उभरीं। यह सांस्कृतिक प्रभाव आज भी भारत की भाषाई विविधता और साहित्य में देखा जा सकता है।

4. **हिंदू-मुस्लिम एकता और सांप्रदायिक सौहार्द:** निर्गुण संतों (जैसे कबीर और नानक) ने दोनों धर्मों के बाहरी आडंबरों को अस्वीकार किया और एक ऐसे ईश्वर की बात की जो दोनों के लिए समान है। कबीर ने कहा, "हिंदू कहें मोहि राम पियारा, तुर्क कहें रहमाना।" इस संदेश ने मध्यकालीन भारत में सांप्रदायिक सौहार्द और समन्वय की भावना को बढ़ावा दिया।
5. **साहित्य, कला और संगीत पर प्रभाव:** भक्ति आंदोलन ने भारतीय संगीत (भजन, कीर्तन, गान), नृत्य (रासलीला), और चित्रकला (राधा-कृष्ण और राम दरबार के चित्र) को एक नई दिशा दी। भक्ति संगीत भारतीय शास्त्रीय और लोक संगीत का एक अभिन्न अंग बन गया।
6. **व्यक्तिवाद और धर्मनिरपेक्षता की नींव:** भक्ति ने व्यक्ति को स्वयं अपने मोक्ष का मार्ग चुनने का अधिकार दिया, जिससे व्यक्तिगत धार्मिक स्वतंत्रता का विचार मजबूत हुआ। जाति और धर्म से परे केवल प्रेम और नैतिकता पर आधारित उनके संदेश ने आधुनिक भारत में धर्मनिरपेक्षता और मानवतावाद की वैचारिक नींव रखी।

भक्ति साहित्य ने भारतीय मानस पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि इसने समाज को रूढ़िवादी कर्मकांडों से मुक्त कर एक मानवतावादी और गतिशील दिशा प्रदान की।

भक्ति आंदोलन की चिरस्थायी विरासत

भक्ति आंदोलन भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में केवल एक अध्याय नहीं, बल्कि एक चिरस्थायी विरासत है जो आज भी प्रासंगिक है। इस आंदोलन ने सातवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पटल पर जो गहन परिवर्तन किए, वे अभूतपूर्व थे। इसने यह सिद्ध किया कि धर्म का मूल सार आडंबरों या जटिल अनुष्ठानों में नहीं, बल्कि मानव हृदय के शुद्ध प्रेम और समर्पण में निहित है। इस आंदोलन की सबसे बड़ी सफलता धर्म को आम जनता तक पहुँचाना थी। कबीर ने धार्मिक रूढ़ियों पर प्रहार किया; नानक ने एकता का संदेश दिया; सूरदास और मीरा ने प्रेम की पराकाष्ठा दिखाई; और तुलसीदास ने मर्यादा और लोक मंगल की भावना को प्रतिष्ठित किया। इन संतों ने अपनी सरल और मधुर साहित्यिक शैली के माध्यम से

संदेशों को जन-जन तक पहुँचाया, जिससे भारत की क्षेत्रीय भाषाओं को गरिमा और सम्मान मिला।

भक्ति आंदोलन की विरासत आज भी जीवित है: जातिगत भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष, सामाजिक समानता की माँग, महिलाओं की आत्मिक अभिव्यक्ति का अधिकार, और हिंदू-मुस्लिम समन्वय की भावना ये सभी मूल्य भक्ति आंदोलन की देन हैं। इसने भारत के लोकतंत्रात्मक और समावेशी चरित्र की नींव रखी। आज भी जब हम भजन, कीर्तन, गुरुद्वारों में सबद-कीर्तन, या किसी भी धार्मिक-सामाजिक सभा में ईश्वर के नाम का जप देखते हैं, तो हम उसी भक्ति आंदोलन की धारा से जुड़ते हैं जिसने सदियों पहले भारत को प्रेम और समानता का पाठ पढ़ाया था। यह केवल अतीत का गौरव नहीं, बल्कि वर्तमान की प्रेरणा है जो हमें एक अधिक न्यायपूर्ण और मानवीय समाज की ओर ले जाती है।

इकाई 3.2: भक्ति आंदोलन के उदय के कारण

3.2.1 सामाजिक असमानता और धार्मिक क्रांति

1. मध्यकालीन भारत: सामाजिक विषमता और धार्मिक क्रांति की पृष्ठभूमि

मध्यकालीन भारतीय इतिहास का वह दौर, जो लगभग 13वीं शताब्दी से आरंभ होता है, केवल राजनीतिक उथल-पुथल का काल नहीं था, बल्कि यह सामाजिक और धार्मिक धरातल पर गहरे अंतर्विरोधों और महत्वपूर्ण क्रांतियों का भी युग था। इस काल की सबसे बड़ी सामाजिक समस्या वर्ण व्यवस्था की कठोरता और उससे उत्पन्न हुई सामाजिक विषमता थी, जिसने समाज के एक विशाल वर्ग को मानवाधिकारों और आध्यात्मिक मुक्ति से वंचित कर रखा था। भारतीय समाज अपनी हजारों वर्षों की जटिल परंपराओं के चलते एक ऐसी जकड़न में फँस चुका था, जहाँ व्यक्ति का मूल्य उसके जन्म से निर्धारित होता था, कर्म से नहीं। ब्राह्मणों के नेतृत्व में धर्म और ज्ञान पर एकाधिकार स्थापित हो चुका था, जिसके परिणामस्वरूप धार्मिक क्रियाकलाप अत्यंत जटिल, खर्चीले और जनसामान्य की पहुँच से दूर हो गए थे। यह जटिलता और विषमता ही वह उपजाऊ जमीन बनी, जिसने धार्मिक क्रांति के बीज को पोषित किया। जब जनता की आशाएँ पारंपरिक ढाँचों से टूटने लगीं और उन्हें महसूस हुआ कि मोक्ष या मुक्ति का मार्ग केवल जाति और धन के माध्यम से ही संभव नहीं है, तब एक वैकल्पिक आध्यात्मिक धारा की आवश्यकता महसूस हुई।

इस पृष्ठभूमि में, इस्लाम के आगमन ने एक उत्प्रेरक (catalyst) का कार्य किया। यद्यपि मुस्लिम शासकों का आगमन एक राजनीतिक घटना थी, लेकिन इसके साथ आए सूफी संतों और इस्लामी सिद्धांतों ने सामाजिक विचारकों को एक नया आयाम दिया। इस्लाम का मूल सिद्धांत एकेश्वरवाद (तौहीद) और मानव मात्र की समानता ने हिंदू धर्म की जटिल बहुदेववाद और जातिगत ऊँच-नीच के विरुद्ध एक शक्तिशाली वैचारिक चुनौती पेश की। इस चुनौती ने आंतरिक सुधार आंदोलनों को बल दिया। सामाजिक विसंगतियों से जूझ रही जनता ने पहली बार देखा कि एक ऐसी धार्मिक प्रणाली भी विद्यमान है जहाँ पुजारी और भक्त के बीच कोई मध्यस्थ नहीं है और जहाँ सभी अनुयायियों को समान माना जाता है। इस बाहरी प्रभाव ने उन भारतीय मनीषियों को प्रेरित किया जो पहले से ही आंतरिक सुधार की वकालत कर रहे थे, और इस

प्रकार भक्ति आंदोलन को एक नई गति और व्यापकता मिली। धार्मिक क्रांति का यह दौर वास्तव में सामाजिक न्याय, समानता और आध्यात्मिक सरलता की ओर बढ़ने वाला एक महान प्रयास था, जिसने सदियों से चली आ रही रूढ़िवादी परंपराओं को हिलाकर रख दिया।

2. वर्ण व्यवस्था की जड़ें और मध्यकाल में सामाजिक विषमता का चरम

मध्यकालीन समाज की सबसे बड़ी और सबसे स्थायी विशेषता वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा की कठोरता थी, जिसने सामाजिक विषमता को अपने चरम पर पहुँचा दिया था। सैद्धांतिक रूप से, वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी, जिसमें चार मुख्य वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शामिल थे। परंतु, मध्यकाल तक आते-आते यह व्यवस्था पूरी तरह से जन्म पर आधारित हो गई थी और हजारों उप-जातियों (जातियों) में विभक्त हो चुकी थी, जिसने समाज को छोटे-छोटे, अगम्य खंडों में बाँट दिया था। ब्राह्मण वर्ग ने धर्मग्रंथों की व्याख्या और धार्मिक अनुष्ठानों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था, जिससे उन्हें समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ। यह वर्ग न केवल आध्यात्मिक मामलों में बल्कि सामाजिक रीति-रिवाजों और कानूनों को निर्धारित करने में भी प्रमुख था, जिसके कारण वे किसी भी चुनौती से अछूते रहे।

इस व्यवस्था में शूद्रों और उससे भी नीचे अति-शूद्रों (जिन्हें अस्पृश्य या अछूत माना जाता था) की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उन्हें समाज के हाशिए पर धकेल दिया गया था; उन्हें गाँवों और बस्तियों के बाहर रहने को मजबूर किया जाता था, और उनके लिए 'अपवित्र' माने जाने वाले व्यवसाय (जैसे सफाई, चमड़े का काम, आदि) निर्धारित किए गए थे। उन्हें सार्वजनिक जल स्रोतों का उपयोग करने, मंदिरों में प्रवेश करने, या उच्च जातियों के सामने सम्मानजनक तरीके से बोलने की अनुमति नहीं थी। यह सामाजिक विभाजन केवल धार्मिक या वैचारिक नहीं था, बल्कि इसका गहरा आर्थिक और राजनीतिक आयाम भी था। अधिकांश शूद्र और निम्न जातियाँ भूमिहीन थीं या कारीगर के रूप में काम करती थीं, जिन्हें उनकी मेहनत का उचित फल कभी नहीं मिलता था, जिससे वे सदियों से चले आ रहे शोषण के चक्र में फँस गए थे।

धार्मिक रूप से, इस विषमता को कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत द्वारा न्यायसंगत ठहराया जाता था। यह मान्यता थी कि व्यक्ति अपने पिछले जन्मों के कर्मों के कारण

ही नीची जाति में पैदा हुआ है, और इसलिए उसे वर्तमान जीवन में अपनी स्थिति को विनम्रतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए। इस धार्मिक वैधीकरण ने सामाजिक गतिशीलता के सभी रास्ते बंद कर दिए और स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध किसी भी विद्रोह की संभावना को कम कर दिया। इस विषमता का विषैला प्रभाव केवल निम्न जातियों तक सीमित नहीं था; इसने सम्पूर्ण समाज को आध्यात्मिक रूप से कमजोर कर दिया था, जहाँ धर्म प्रेम और समानता का स्रोत होने के बजाय विभाजन और अहंकार का माध्यम बन गया था। इसी दमघोंटू वातावरण के प्रतिरोध में, एक ऐसे आंदोलन का जन्म अनिवार्य हो गया था जो सीधे जन्म-आधारित विशेषाधिकारों और अनुष्ठानों की जटिलता पर हमला करे, और वह आंदोलन भक्ति आंदोलन के रूप में सामने आया।

3. धार्मिक क्रांति का उद्भव: सामाजिक असमानता के विरुद्ध भक्ति आंदोलन

मध्यकाल में भक्ति आंदोलन भारत की अंतरात्मा से उठा हुआ एक विशाल आंदोलन था, जिसने सामाजिक विषमता की दीवारों को तोड़ने और एक समावेशी, प्रेम-आधारित धर्म की स्थापना का प्रयास किया। यह आंदोलन रूढ़िवादी हिंदू धर्म के जटिल कर्मकांड, जातिवाद और ज्ञान मार्ग की दुरूहता के विरुद्ध एक सहज और तीव्र प्रतिक्रिया थी। भक्ति का मूल सिद्धांत था कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए किसी मध्यस्थ, विस्तृत अनुष्ठान या संस्कृत के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, बल्कि यह शुद्ध प्रेम, समर्पण और व्यक्तिगत भक्ति (भाव) के माध्यम से संभव है।

यह आंदोलन मुख्य रूप से दो धाराओं में विकसित हुआ: सगुण भक्ति (ईश्वर को साकार रूप में पूजना, जैसे राम और कृष्ण) और निर्गुण भक्ति (ईश्वर को निराकार और सर्वव्यापी मानना)। सामाजिक क्रांति के दृष्टिकोण से, निर्गुण धारा विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी। कबीर, गुरु नानक, संत रैदास, और दादू दयाल जैसे संतों ने निर्गुण भक्ति को अपनाकर स्पष्ट रूप से जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवादी वर्चस्व को चुनौती दी। कबीरदास का योगदान इस क्रांति में सबसे मुखर था। वह स्वयं एक जुलाहा (बुनकर) थे, जो उस समय निम्न वर्ग का प्रतीक था। उन्होंने खुलेआम तीर्थ यात्रा, मूर्ति पूजा, उपवास और जाति-पाति की निंदा की। उन्होंने घोषणा की कि ईश्वर न काबा में है और न कैलाश में, बल्कि वह हर मनुष्य की श्वास में विद्यमान है। उनकी साखियों और सबदों ने न केवल हिंदू कर्मकांड पर हमला किया, बल्कि इस्लामी रूढ़िवादिता

को भी नहीं बख्शा, जिससे उनका संदेश पूर्णतः मानव केंद्रित और समानतावादी बन गया। कबीर ने जाति प्रथा को 'झूठा' और 'मानव निर्मित' बताकर समाज के निचले तबकों को आत्मसम्मान और आध्यात्मिक शक्ति प्रदान की। इसी प्रकार, गुरु नानक देव ने जाति विहीन समाज और एकेश्वरवाद का प्रचार किया। उन्होंने 'संगत' (सामूहिक धार्मिक मंडली) और 'पंगत' (एक साथ बैठकर भोजन करना, जिसे लंगर कहा जाता है) की परंपराएँ स्थापित कीं। लंगर ने जाति और वर्ग की परवाह किए बिना सभी को एक मेज पर लाकर, सामाजिक विषमता पर सीधा प्रहार किया। संत रैदास, जो चमार जाति से थे, ने अपनी जाति के कारण हुए सामाजिक तिरस्कार को अपनी कविता का विषय बनाया, और यह सिद्ध किया कि ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए जन्म या धन नहीं, बल्कि पवित्र हृदय आवश्यक है।

भक्ति आंदोलन ने न केवल दलितों और महिलाओं को आध्यात्मिक स्वतंत्रता दी, बल्कि इसने स्थानीय भाषाओं (हिंदी, मराठी, बंगाली, पंजाबी) को धार्मिक प्रवचन का माध्यम बनाकर ज्ञान को जन-जन तक पहुँचाया। यह धार्मिक क्रांति वास्तव में एक सांस्कृतिक लोकतंत्रीकरण था, जिसने पहली बार यह सिखाया कि समाज में सभी मनुष्य ईश्वर की संतान हैं और उनकी मुक्ति का मार्ग समान रूप से सुलभ है, जिससे सदियों पुरानी सामाजिक व्यवस्था की नींव हिल गई।

4. मुस्लिम आगमन और सांस्कृतिक बदलाव: सूफीवाद तथा समन्वय की नई चेतना

मुस्लिम आगमन, विशेष रूप से दिल्ली सल्तनत और मुगल साम्राज्य की स्थापना, केवल एक राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण नहीं था, बल्कि यह भारतीय उपमहाद्वीप में एक गहन सांस्कृतिक और सामाजिक बदलाव का भी वाहक था। शासक वर्ग के साथ-साथ, सूफी संतों का आगमन हुआ, जिन्होंने अपनी प्रेम, सहिष्णुता और मानवतावादी शिक्षाओं के माध्यम से भारतीय जनमानस पर अमिट छाप छोड़ी। यह सूफीवाद ही था जिसने भक्ति आंदोलन के साथ मिलकर एक समन्वय की नई चेतना को जन्म दिया। सूफी संत, जैसे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, निज़ामुद्दीन औलिया और बाबा फरीद, शासक वर्ग के ऐश्वर्य से दूर रहते थे और आम लोगों के बीच खानकाहों (आश्रमों) में रहते थे। उनका जीवन सादगी, त्याग और सर्वधर्म समभाव का प्रतीक था।

सूफी दर्शन का केंद्रीय विचार 'वहदत-उल-वजूद' (सर्वेश्वरवाद या ईश्वर की एकता) था, जिसने हिंदू अद्वैतवाद के विचारों से गहरा मेल खाया। सूफी संतों ने जोर देकर कहा कि ईश्वर एक है और वह सभी मनुष्यों में निवास करता है। उनकी भाषा सरल हिन्दवी थी, और उनके सत्संग, जिन्हें समा कहा जाता था, भारतीय संगीत और रागों पर आधारित होते थे। सूफी संतों और भक्ति संतों के बीच वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर एक अद्भुत अभिसरण हुआ। दोनों ही परंपराओं ने कर्मकांड, धार्मिक आडंबर, और जातिगत भेदभाव को खारिज किया। सूफी संतों ने भारतीय योग, प्राणायाम और ध्यान की विधियों को अपनाया, जबकि भक्ति संतों ने फारसी-इस्लामी शब्दावली (जैसे 'खुदा', 'पीर', 'मरशिद') का प्रयोग अपनी कविताओं में किया। कबीर ने एक ओर जहाँ राम और रहीम को एक माना, वहीं गुरु नानक ने ईश्वर को 'सच्चा पातिशाह' कहकर संबोधित किया, जो फारसी शासन के संदर्भ में एक धार्मिक-सांस्कृतिक संश्लेषण था।

इस सांस्कृतिक बदलाव का सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि समाज में एक नई गंगा-जमुनी तहज़ीब का विकास हुआ। कला, संगीत, वास्तुकला और साहित्य में दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे में घुलमिल गईं। कव्वाली, ग़ज़ल और ठुमरी जैसी संगीत शैलियाँ भारतीय और फारसी संगीत का मिश्रण थीं। फारसी लिपि ने भारतीय भाषाओं (जैसे उर्दू) को जन्म दिया, जबकि फारसी साहित्य ने भारतीय लोक कथाओं को अपनाया। मुस्लिम दरबारी त्योहारों पर हिंदू संगीतकारों को सम्मान मिला, और हिंदू पर्वों पर मुस्लिम कारीगरों ने कलाकृतियाँ बनाईं। इस प्रकार, मुस्लिम आगमन से उत्पन्न सांस्कृतिक बदलाव ने समाज को द्विध्रुवी बनाने के बजाय, समावेशी और समकालिक बना दिया। सूफीवाद ने भक्ति आंदोलन को एक शक्तिशाली बाहरी समर्थन दिया, जिसने मिलकर सामाजिक समानता की आवश्यकता को मजबूत किया और रूढ़िवादी शक्तियों के एकाधिकार को तोड़कर एक ऐसे समाज की नींव रखी जहाँ प्रेम, सहिष्णुता और आपसी सम्मान जीवन का केंद्रीय मूल्य बन गए।

5. जनचेतना पर सांस्कृतिक संगम का प्रभाव और दीर्घकालिक परिणाम

भक्ति और सूफी आंदोलन के माध्यम से हुए सांस्कृतिक संगम का भारतीय जनचेतना और समाज पर दीर्घकालिक और क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव केवल धार्मिक आस्थाओं तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने सामाजिक संरचना, भाषा के विकास,

और राष्ट्रीय पहचान के निर्माण को भी गहराई से प्रभावित किया। यह संगम एक शांत क्रांति थी जिसने बिना किसी राजनीतिक बल के, सदियों पुराने सामाजिक मानदंडों को धीरे-धीरे बदल दिया। सबसे पहला और महत्वपूर्ण प्रभाव सामाजिक समानता की भावना को सुदृढ़ करना था। संतों और पीरों ने अपनी खानकाहों और मठों के दरवाजे बिना जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव के सभी के लिए खोल दिए। जनसाधारण ने पहली बार महसूस किया कि उनकी आध्यात्मिक मुक्ति के लिए उन्हें ब्राह्मणों या मौलवियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रक्रिया ने निम्न जातियों के बीच आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की भावना पैदा की, जिससे वे पारंपरिक उत्पीड़न के विरुद्ध खड़े होने में सक्षम हुए। यद्यपि जाति व्यवस्था पूरी तरह समाप्त नहीं हुई, लेकिन भक्ति-सूफी आंदोलन ने इसके धार्मिक औचित्य को गंभीर रूप से चुनौती दी और इसे कमजोर किया।

दूसरा, इस संगम ने जनभाषाओं का साहित्यिक उत्थान किया। भक्ति संतों ने अपनी वाणियाँ संस्कृत या फारसी के बजाय स्थानीय बोलियों जैसे ब्रजभाषा, अवधी, मराठी, पंजाबी और बांग्ला में रचीं। इससे ये भाषाएँ धार्मिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति के शक्तिशाली माध्यम बन गईं, और ज्ञान का प्रसार अभिजात्य वर्ग से निकलकर आम जनता तक पहुँचा। गुरुमुखी लिपि का विकास इसी जन-केंद्रित साहित्यिक क्रांति का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। साहित्य की यह लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया सीधे तौर पर जनचेतना को मजबूत करने वाली थी। तीसरा, इस समन्वय ने धर्मनिरपेक्षता और सहिष्णुता की नींव रखी। मध्यकालीन भारत के अधिकांश भाग में, हिंदू और मुस्लिम समुदाय के लोग संतों और सूफियों द्वारा स्थापित साझा पूजा स्थलों और त्योहारों में भाग लेते थे। उदाहरण के लिए, मुस्लिम कारीगरों द्वारा हिंदू देवताओं की मूर्तियों का निर्माण करना, या हिंदुओं का सूफी दरगाहों पर जाना आम बात थी। इस प्रकार की साझा संस्कृति ने अंधविश्वास और कट्टरता को कम करने में मदद की और एक ऐसी बहुलतावादी नैतिकता का निर्माण किया जो आज भी भारतीय संविधान की आत्मा में परिलक्षित होती है।

अंततः, सांस्कृतिक संगम ने कला और वास्तुकला में एक नई शैली को जन्म दिया, जिसे इंडो-इस्लामिक शैली कहा जाता है। मकबरों, मस्जिदों और किलों में भारतीय मेहराब, गुंबद, और अलंकरणों का फ्यूजन हुआ, जो इस बात का भौतिक प्रमाण है कि

दो संस्कृतियाँ केवल सह-अस्तित्व में नहीं थीं, बल्कि वे एक दूसरे को समृद्ध कर रही थीं। दीर्घकालिक परिणाम यह रहा कि भारतीय समाज ने एक समकालिक पहचान विकसित की, जो किसी एक धार्मिक या जातिगत समूह की पहचान नहीं थी, बल्कि विविधताओं के एक सुंदर मिश्रण की पहचान थी। इस आंदोलन ने भारत के लिए एक ऐसा आध्यात्मिक और नैतिक ढाँचा तैयार किया, जिसने आने वाले समय में बाहरी आक्रमणों, औपनिवेशिक शासन और विभाजन की चुनौतियों के बावजूद भारतीय समाज को भावनात्मक और सांस्कृतिक रूप से एकजुट बनाए रखा।

इकाई 3.3: प्रमुख भक्ति धाराएँ

3.3.1 वैष्णव भक्ति परंपरा

1. परिचय: भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि और महत्ता

भक्ति आंदोलन भारतीय इतिहास का वह स्वर्णिम काल है जिसने धर्म, समाज और साहित्य को एक नई दिशा दी। यह केवल एक धार्मिक आंदोलन नहीं था, बल्कि एक सांस्कृतिक और सामाजिक क्रांति थी जिसने ईश्वर और मनुष्य के बीच के जटिल संबंध को सरल बनाया। 'भक्ति' शब्द का अर्थ है 'बाँटना' या 'सेवा करना', और इसका मूल दर्शन है प्रेम, श्रद्धा और समर्पण के माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति। इस आंदोलन का सूत्रपात सातवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण भारत में हुआ, जहाँ आलवारों (विष्णु भक्त) और नयनारों (शिव भक्त) ने तमिल भाषा में सरल और हृदयस्पर्शी गीतों के माध्यम से अपने आराध्य के प्रति अटूट प्रेम व्यक्त किया। यह विचारधारा धीरे-धीरे उत्तर की ओर फैली, विशेषकर रामानंद और उनके शिष्यों के माध्यम से, और पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी तक यह पूरे भारत में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। भक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी देन यह थी कि इसने जाति, वर्ग और लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव को दरकिनार करते हुए, प्रत्येक व्यक्ति को सीधे ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया। इस आंदोलन ने कर्मकांडों, जटिल अनुष्ठानों और संस्कृत भाषा के एकाधिकार को चुनौती दी, और इसके बजाय लोकभाषाओं (जैसे हिंदी, अवधी, ब्रजभाषा, मैथिली, मराठी, बंगाली आदि) में साहित्य की रचना की, जिससे यह जन-जन तक पहुँच सका। इस प्रकार, भक्ति आंदोलन ने न केवल व्यक्तिगत मोक्ष का मार्ग दिखाया, बल्कि एक समतामूलक समाज की नींव रखने और भारतीय भाषाओं तथा साहित्य को समृद्ध करने में भी निर्णायक भूमिका निभाई। यह वह आधार है जिस पर आगे चलकर वैष्णव, शैव और सन्त साहित्य की महान परंपराएँ विकसित हुईं, जिनकी चर्चा आगे की जा रही है। इन तीनों धाराओं ने, अपनी अलग उपासना पद्धतियों के बावजूद, प्रेम और समर्पण के केंद्रीय भाव को बनाए रखा।

2. वैष्णव भक्ति परंपरा: राम और कृष्ण भक्ति

वैष्णव भक्ति परंपरा भारतीय भक्ति आंदोलन का सबसे व्यापक और प्रभावशाली सोपान है, जिसका मूल आधार विष्णु को परम ब्रह्म मानना और उनके अवतारों,

विशेषकर राम और कृष्ण, की पूजा करना है। यह परंपरा लीला (दिव्य नाटक), माधुर्य (मधुर प्रेम) और शरणागति (पूर्ण समर्पण) के भावों पर केंद्रित है। वैष्णव भक्ति को दो प्रमुख शाखाओं में बाँटा गया राम भक्ति और कृष्ण भक्ति।

- **राम भक्ति काव्य:** राम भक्ति काव्य के शिरोमणि कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं, जिनकी कालजयी कृति रामचरितमानस इस धारा का आधार स्तंभ है। राम भक्ति में आराध्य राम को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' के रूप में स्वीकार किया गया है एक आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श भ्राता और आदर्श राजा। यह भक्ति मुख्य रूप से दास्य भाव पर आधारित है, जहाँ भक्त स्वयं को सेवक और राम को स्वामी मानता है। रामचरितमानस की रचना अवधी भाषा में हुई, जिसने इसे संस्कृत के कठिन ग्रंथों के मुकाबले आम जनता के लिए सुलभ बना दिया। तुलसीदास की भक्ति केवल व्यक्तिगत मुक्ति तक सीमित नहीं थी; उनका दर्शन 'लोक-मंगल' की भावना से ओत-प्रोत था। उन्होंने उस समय के समाज में व्याप्त धार्मिक और सामाजिक विघटन को दूर करने का प्रयास किया। उनके राम एक आदर्श राज्य (रामराज्य) की स्थापना करते हैं, जो सामाजिक व्यवस्था, न्याय और धर्म के उच्चतम मूल्यों का प्रतीक है। तुलसीदास ने ज्ञान (बुद्धि), कर्म (कर्तव्य) और भक्ति (श्रद्धा) के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया, जिससे उनकी रामभक्ति एक व्यापक और समावेशी धर्म-दर्शन बन गई। राम काव्य में शांत रस और वीर रस की प्रधानता है, जो राम के गंभीर, धैर्यवान और न्यायप्रिय चरित्र को दर्शाती है। राम के प्रति अटूट निष्ठा और सामाजिक आदर्शों के पालन पर बल देना इस धारा की मुख्य विशेषता है।
- **कृष्ण भक्ति काव्य:** कृष्ण भक्ति शाखा ने भक्ति को एक अत्यंत भावुक, रागात्मक और मधुर रूप प्रदान किया। इस धारा के प्रमुख कवि सूरदास हैं, जिन्हें 'अष्टछाप' कवियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। जबकि राम भक्ति मर्यादा पर केंद्रित थी, कृष्ण भक्ति प्रेम और लीला पर केंद्रित थी। आराध्य कृष्ण को एक मित्र, पुत्र, और प्रियतम के रूप में पूजा गया। इसमें वात्सल्य भाव (माता यशोदा और बालकृष्ण का प्रेम), सख्य भाव (सखाओं के साथ मित्रता), और सबसे महत्त्वपूर्ण माधुर्य भाव (राधा और गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम) की

प्रधानता है। सूरदास ने अपने कालजयी ग्रंथ सूरसागर में कृष्ण की बाल-लीलाओं और गोपी-विरह का ऐसा मार्मिक चित्रण किया कि उन्हें 'वात्सल्य रस का सम्राट' कहा गया। उनकी कविताएँ ब्रजभाषा की मधुरता से परिपूर्ण हैं और गीति शैली में लिखी गई हैं। इस धारा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कवयित्री मीराबाई थीं, जिनकी भक्ति पति-प्रेम पर आधारित थी; उन्होंने कृष्ण को अपना एकमात्र पति माना और सामाजिक बंधनों को तोड़कर उनकी उपासना की। कृष्ण भक्ति ने प्रेम की लौकिक अभिव्यक्ति को एक पारलौकिक आधार प्रदान किया। गोपियों का प्रेम, जो सामाजिक मर्यादाओं से परे है, जीवात्मा (गोपी) और परमात्मा (कृष्ण) के मिलन की पराकाष्ठा का प्रतीक है। इस प्रकार, वैष्णव भक्ति परंपरा, राम और कृष्ण के दो विपरीत किंतु पूरक रूपों के माध्यम से, भक्ति के समस्त आयामों आदर्शवादी दास्य भाव से लेकर रागात्मक मधुर भाव तक को अभिव्यक्त करती है। दोनों ही शाखाओं ने संस्कृत की जगह लोकभाषाओं को अपनाया और सहज प्रेम व समर्पण को मोक्ष का सरल मार्ग बताया।

3. शैव भक्ति परंपरा: शिव भक्ति काव्य

भक्ति आंदोलन के विशाल परिदृश्य में, शैव भक्ति परंपरा एक प्राचीन, गौरवशाली और विशिष्ट स्थान रखती है। यह परंपरा उन भक्तों के साहित्यिक और धार्मिक प्रयासों का प्रतिनिधित्व करती है जिन्होंने शिव को परम ब्रह्म, आदिदेव और संहारकर्ता के साथ-साथ अत्यंत दयालु, भोले और कल्याणकारी देव के रूप में पूजा। वैष्णव परंपरा जहाँ अवतारवाद और सामाजिक मर्यादा पर बल देती है, वहीं शैव भक्ति अक्सर वैराग्य, योग, और सृष्टि के द्वंद्वात्मक स्वरूप (शिव-शक्ति का मिलन) पर केंद्रित रही है। शैव भक्ति का सबसे प्राचीन और व्यवस्थित रूप दक्षिण भारत में विकसित हुआ, जहाँ नयनार संतों ने सातवीं से दसवीं शताब्दी के बीच तमिल भाषा में भावपूर्ण काव्य की रचना की। इन नयनारों के भजन, जिन्हें सामूहिक रूप से तिरुमुराई में संकलित किया गया, शिव के विभिन्न रूपों, उनकी लीलाओं और भक्तों के प्रति उनके अनुग्रह का वर्णन करते हैं। दक्षिण भारतीय शैव परंपरा में, शिव को ज्ञान, मुक्ति और प्रेम का स्रोत माना जाता है, और उनकी पूजा मंदिर (लिंग) और व्यक्तिगत अनुभव दोनों में की जाती है।

उत्तर भारत में शैव दर्शन ने कई अलग-अलग रूपों में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। सबसे महत्वपूर्ण धारा नाथ संप्रदाय की थी, जिसके प्रवर्तक गोरखनाथ थे। यद्यपि नाथ संतों को अक्सर निर्गुण संत परंपरा का अग्रदूत माना जाता है, उनका मूल दर्शन हठयोग, कुंडलिनी शक्ति जागरण और शरीर को साधने की प्रक्रिया पर आधारित है, जिसका सीधा संबंध आदिनाथ शिव से है। नाथों का काव्य (बानी) जटिल कर्मकांडों का खंडन करता है और योगिक क्रियाओं के माध्यम से आंतरिक शुद्धि तथा मोक्ष प्राप्ति पर बल देता है। उनका 'शिव' बाहरी देव न होकर साधक के भीतर का परमतत्व है। नाथों की साधना पद्धति में तंत्र और योग का समन्वय दिखाई देता है, जिसने बाद के निर्गुण संत काव्य (विशेषकर कबीर) के उलटबाँसी और रहस्यात्मक अभिव्यक्तियों को साहित्यिक आधार प्रदान किया।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण शैव धारा कश्मीर शैववाद या त्रिक दर्शन है, जो दसवीं शताब्दी के आसपास विकसित हुई। इस दर्शन में शिव को केवल एक देव नहीं, बल्कि परम चेतना (प्रकाश) माना गया है, और यह माना जाता है कि संपूर्ण सृष्टि शिव की ही अभिव्यक्ति है। कश्मीरी शैव दर्शन का काव्य और साहित्य, जैसे अभिनवगुप्त का 'तंत्रालोक', अत्यंत दार्शनिक और गूढ़ है, जिसमें व्यक्ति की आत्मा (अनु) और शिव के बीच कोई वास्तविक अंतर नहीं माना जाता है (अद्वैत)। भक्त इस परम चेतना को प्रेम और ज्ञान के माध्यम से अपने भीतर ही पहचानता है। इसके अतिरिक्त, वीर शैव आंदोलन (लिंगायत) ने कर्नाटक में एक सामाजिक क्रांति को जन्म दिया, जहाँ बसवेश्वर जैसे संतों ने जाति प्रथा का घोर विरोध किया और 'इष्टलिंग' की पूजा पर बल दिया, जो शिव का व्यक्तिगत अनुभव है। शैव भक्ति काव्य की विशेषता यह है कि यह जहाँ एक ओर अलौकिक शक्ति और संहार की भीषणता को व्यक्त करता है, वहीं दूसरी ओर वैराग्य, त्याग, और आंतरिक शुद्धि के गहन दार्शनिक मार्ग का भी संकेत देता है। इस परंपरा में, मुक्ति बाहरी क्रियाओं से नहीं, बल्कि भीतर की चेतना को शिवमय बनाने से प्राप्त होती है, जिसने भारतीय साहित्य और दर्शन को गहनता प्रदान की।

4. सन्त साहित्यिक परंपरा: निर्गुण भक्ति धारा

भक्ति आंदोलन की सन्त साहित्यिक परंपरा या निर्गुण भक्ति धारा एक क्रांतिकारी और समाज-सुधारक प्रवृत्ति थी, जिसने ईश्वर को किसी विशेष रूप, नाम या स्थान की

सीमाओं से मुक्त कर दिया। 'निर्गुण' का अर्थ है 'निराकार' या 'गुणरहित' अर्थात् ईश्वर वह परम सत्ता है जो जन्म-मृत्यु के चक्र से परे है, जिसका कोई रूप, रंग, जाति या पहचान नहीं है। यह धारा मुख्य रूप से उत्तर भारत में फैली और इसके दो प्रमुख उप-प्रवाह थे: ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा।

- **ज्ञानाश्रयी शाखा (सन्त काव्य):** इस शाखा के प्रमुख प्रतिनिधि कबीरदास थे, जिनके साथ गुरु नानक देव, रैदास (रविदास), और दादू दयाल जैसे संत जुड़े थे। इस काव्य का केंद्रीय विषय ज्ञान और आंतरिक अनुभव के माध्यम से निराकार ब्रह्म की प्राप्ति है। संतों ने धार्मिक रूढ़िवादिता, कर्मकांडों (बाह्याडंबर), जाति प्रथा और मूर्ति पूजा का खुलकर खंडन किया। कबीर का निर्भीक और स्पष्टवादी स्वर सामाजिक बुराइयों पर सीधे प्रहार करता है। उनका ईश्वर न मस्जिद में है न मंदिर में, बल्कि प्रत्येक प्राणी की श्वास में है। संतों ने गुरु की महत्ता पर सर्वाधिक बल दिया, क्योंकि गुरु ही वह दीपक है जो अज्ञानता के अंधकार को दूर कर ब्रह्मज्ञान का मार्ग दिखाता है। संतों की भाषा, जिसे सधुक्कड़ी या पंचमेल खिचड़ी कहा जाता है, विभिन्न बोलियों और भाषाओं का मिश्रण थी, जो यह दर्शाती है कि यह धारा विभिन्न सामाजिक और भौगोलिक पृष्ठभूमियों के लोगों को जोड़ती थी। संतों की रचनाएँ साखी, सबद और रमैनी के रूप में संग्रहित हैं। इनका काव्य अक्सर उलटबाँसी का प्रयोग करता है, जिसके माध्यम से वे लौकिक प्रतीकों द्वारा अलौकिक, रहस्यात्मक अर्थों को अभिव्यक्त करते थे। इस धारा ने समाज में धार्मिक समन्वय और समता का मार्ग प्रशस्त किया, और इसने व्यक्तिगत मोक्ष को सामाजिक न्याय से जोड़ा।
- **प्रेमाश्रयी शाखा (सूफी काव्य):** इस शाखा के कवि, जिन्हें अक्सर सूफी कवि कहा जाता है, मुख्य रूप से अवधी भाषा में लंबी प्रेम-कथाएँ (प्रेमाख्यान काव्य) लिखते थे। इस धारा के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी (पद्मावत), कुतुबन (मृगावती), और मंझन (मधुमालती) थे। हालाँकि ये कवि इस्लाम धर्म से प्रेरित थे, उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए भारतीय लोक-कथाओं और प्रेम-कहानियों को चुना। इस धारा में, लौकिक प्रेम (मानवी प्रेम) को पारलौकिक

प्रेम (ईश्वरीय प्रेम) का माध्यम माना गया। प्रेमाख्यान काव्य में नायक (आत्मा/जीवात्मा) नायिका (परमात्मा/परम चेतना) को प्राप्त करने के लिए कठिन बाधाओं को पार करता है। 'पद्मावत' में, चित्तौड़ (शरीर/तन) और रानी पद्मावती (परम चेतना/बुद्धि) की कहानी के माध्यम से, जायसी ने प्रतीकात्मक रूप से अद्वैतवाद के दर्शन को अभिव्यक्त किया। इस प्रेममार्ग में प्रेम की तीव्र अनुभूति, विरह की पीड़ा और समर्पण का भाव प्रमुख है। विरह की यह अग्नि ही आत्मा को शुद्ध करके परमात्मा से मिलाने में सहायक होती है। सूफी कवियों ने भारतीय संस्कृति के साथ सूफी दर्शन का सुंदर समन्वय किया, जिससे एक ऐसी समन्वयात्मक संस्कृति का उदय हुआ जिसने हिंदू और मुस्लिम समुदायों के बीच प्रेम और समझ को बढ़ावा दिया। संक्षेप में, निर्गुण भक्ति धारा ने ईश्वर को व्यक्तिगत चेतना और प्रेम की शक्ति के रूप में स्थापित करके, धर्म को दार्शनिक और सामाजिक रूप से अधिक समावेशी और तार्किक आधार प्रदान किया।

भक्ति परंपरा की अविस्मरणीय विरासत

भारतीय साहित्य और संस्कृति में भक्ति आंदोलन की विरासत अतुलनीय और अविस्मरणीय है। यह आंदोलन, जिसे हमने वैष्णव, शैव और सन्त परंपराओं के रूप में विभाजित किया है, अपनी भिन्न उपासना पद्धतियों के बावजूद एक मूलभूत एकता पर टिका हुआ था ईश्वर के प्रति सहज प्रेम और समर्पण ही मोक्ष का सरलतम मार्ग है। वैष्णव भक्ति ने जहाँ राम के रूप में मर्यादा और सामाजिक आदर्शों की स्थापना की और कृष्ण के रूप में प्रेम की रागात्मक और मधुर अभिव्यक्ति प्रदान की, वहीं शैव भक्ति ने योग, वैराग्य और चेतना के अद्वैतवादी दर्शन को गहनता दी। इसके समानांतर, सन्त परंपरा ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना करके धार्मिक कर्मकांडों और जातिगत भेदभाव पर सीधा प्रहार किया, जिससे एक समतामूलक सामाजिक चेतना का उदय हुआ।

भक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी सफलता भारतीय भाषाओं के साहित्यिक विकास में है। संस्कृत की जटिलता को छोड़कर, इन कवियों ने अवधी, ब्रजभाषा, पंजाबी, राजस्थानी और अन्य लोकभाषाओं में इतनी समृद्ध और कालजयी रचनाएँ कीं कि ये भाषाएँ आज भी भारतीय साहित्य की पहचान हैं। तुलसीदास का रामचरितमानस,

सूरदास का सूरसागर, और कबीर की बानियाँ आज भी भारतीय समाज के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन का मार्गदर्शन करती हैं। इन संतों और भक्तों ने यह सिद्ध कर दिया कि धार्मिकता का मापदंड जन्म या सामाजिक स्थिति नहीं, बल्कि हृदय की पवित्रता और निष्कपट प्रेम है। भक्ति आंदोलन ने भारतीय दर्शन में विशिष्ट अद्वैतवाद (रामानुज), शुद्धाद्वैतवाद (वल्लभाचार्य), और द्वैताद्वैतवाद (निम्बार्काचार्य) जैसे कई नए दार्शनिक मतों को जन्म दिया, जिससे आध्यात्मिक चिंतन को नई दिशा मिली। इन परंपराओं ने भारतीय संगीत, नृत्य, चित्रकला और लोक कलाओं को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। कुल मिलाकर, भक्ति आंदोलन एक ऐसा बहुआयामी सांस्कृतिक जागरण था जिसने मध्यकालीन भारत की आत्मा को प्रेम, मानवतावाद और समन्वय की भावना से पोषित किया। इसका प्रभाव न केवल अतीत में गहरा रहा है, बल्कि इसकी शिक्षाएँ आधुनिक युग में भी धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक समानता के लिए एक मजबूत आधार प्रदान करती हैं, जो इसे भारतीय इतिहास का एक शाश्वत और जीवंत अध्याय बनाती है।

इकाई 3.4: निर्गुण और सगुण भक्ति

3.4.1 निर्गुण भक्ति धारा

भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक परंपरा में भक्ति का एक विशेष और महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भक्ति आंदोलन ने भारतीय समाज में एक नई चेतना और सामाजिक परिवर्तन का संचार किया। इस भक्ति परंपरा के अंतर्गत निर्गुण भक्ति धारा एक अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रभावशाली धारा है। निर्गुण भक्ति का अर्थ है ऐसी भक्ति जिसमें ईश्वर को गुणहीन, साकार रूप से परे, निराकार और ब्रह्म के रूप में माना जाता है। निर्गुण भक्तों का विश्वास है कि परमेश्वर किसी भी रूप, आकार, गुण और विशेषताओं से परे है। वह अनिर्वचनीय है, अव्यक्त है और मनुष्य की इंद्रियों से परे है। निर्गुण भक्ति धारा की उत्पत्ति और विकास मुख्यतः उत्तर भारत में हुआ। इस धारा का प्रसार बहुत तीव्र गति से हुआ और इसके अनुयायियों में विभिन्न समाज के लोग थे। निर्गुण भक्ति के सिद्धांत में ईश्वर की एकता पर बल दिया गया है। इस परंपरा में मूर्ति पूजा का विरोध किया गया है। निर्गुण भक्त मानते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापी है, सर्वशक्तिमान है और सर्वज्ञ है। वह सभी प्राणियों के हृदय में निवास करता है। निर्गुण भक्ति में ईश्वर से सीधा और व्यक्तिगत संबंध स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। इसमें किसी बिचौलिए या मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। भक्त को अपने मन में ईश्वर का ध्यान करना चाहिए और उसके साथ सीधा संवाद स्थापित करना चाहिए।

निर्गुण भक्ति धारा के दो प्रमुख शाखाएं हैं - ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा। ये दोनों शाखाएं अपने-अपने तरीके से निर्गुण ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग दिखाती हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा

ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति शाखा ज्ञान और विवेक पर आधारित है। इस शाखा के अनुसार ईश्वर तक पहुंचने का मार्ग ज्ञान है। ज्ञान का तात्पर्य है आत्मा और ब्रह्म की एकता का बोध। ज्ञानाश्रयी शाखा में माया और जगत की अनित्यता पर बल दिया गया है। इस शाखा के अनुयायी संसार को एक भ्रम मानते हैं और उससे मुक्त होने के लिए ध्यान और आत्मचिंतन को महत्व देते हैं। ज्ञानाश्रयी भक्त को सांसारिक मोह-माया से दूर रहना चाहिए। उसे अपनी इंद्रियों को वश में करना चाहिए और मन की शांति को प्राप्त करना चाहिए।

ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख प्रतिनिधि कबीर थे। कबीर एक महान भक्त कवि थे जिन्होंने निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का प्रचार किया। कबीर ने मूर्ति पूजा, धार्मिक कर्मकांड और सामाजिक भेदभाव का घोर विरोध किया। कबीर के अनुसार ईश्वर न तो हिंदू का है न मुसलमान का। वह सभी के लिए समान है। कबीर ने अपनी रचनाओं में सरल और सहज भाषा का प्रयोग किया। उनकी रचनाएं - दोहे, साखी और पद - आमजन में अत्यंत लोकप्रिय थीं। कबीर ने ईश्वर के साथ सीधे संबंध की बात कही और किसी भी प्रकार की मध्यस्थता का विरोध किया। कबीर के काव्य में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन बहुत सुंदर है। वे कहते हैं कि ब्रह्म अदृश्य है, अनिर्वचनीय है और समस्त संसार में व्याप्त है। कबीर का मानना है कि ईश्वर को पाने के लिए अपने आपको भूल जाना चाहिए। आत्मविस्मृति ही ईश्वर की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। कबीर कहते हैं कि "मन का मन आप समझे, तो पार हो जाय। बूंद समानी समुद्र में, समुद्र न बूंद कहाय।" यह कथन आत्मा और ब्रह्म की एकता को दर्शाता है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के एक अन्य प्रमुख प्रतिनिधि रैदास थे। रैदास एक जुलाहे परिवार में पैदा हुए थे लेकिन उन्होंने अपनी भक्ति और ज्ञान से समाज में एक विशेष स्थान बनाया। रैदास ने भी कबीर की तरह सामाजिक भेदभाव का विरोध किया। वे मानते थे कि भक्ति में कोई जातिगत भेद नहीं है। रैदास ने सामाजिक समानता और मानवीय गरिमा पर विशेष बल दिया। रैदास की रचनाएं भी दोहों और पदों के रूप में हैं जो आत्मा और ब्रह्म की एकता की व्याख्या करती हैं। धर्मदास भी ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति के महत्वपूर्ण कवि थे। धर्मदास कबीर के शिष्य थे और उन्होंने कबीर के विचारों को आगे बढ़ाया। धर्मदास ने अपनी रचनाओं में सामाजिक सुधार और आध्यात्मिक ज्ञान का संदेश दिया।

ज्ञानाश्रयी शाखा की विशेषताओं को समझना आवश्यक है। इस शाखा में निर्गुण ब्रह्म को ही पूज्य माना जाता है। मूर्तियों, तीर्थों और धार्मिक कर्मकांडों का विरोध किया जाता है। ज्ञानाश्रयी शाखा मानती है कि ज्ञान ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान ही सर्वोच्च लक्ष्य है। ज्ञानाश्रयी भक्त को संसार से वैराग्य ग्रहण करना चाहिए और आत्मविचार में लीन रहना चाहिए। इस शाखा में सामाजिक समानता और भेदभाव के विरोध पर भी जोर दिया गया है।

प्रेमाश्रयी शाखा

प्रेमाश्रयी निर्गुण भक्ति शाखा प्रेम और भावना पर आधारित है। इस शाखा के अनुसार ईश्वर तक पहुंचने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग प्रेम है। प्रेमाश्रयी भक्ति में ईश्वर के साथ एक व्यक्तिगत और भावनात्मक संबंध स्थापित किया जाता है। भक्त ईश्वर को अपना प्रिय मानता है और उससे अपना हृदय पूरी तरह समर्पित कर देता है। प्रेमाश्रयी शाखा में हृदय की पवित्रता और ईश्वर के प्रति अपार प्रेम को महत्व दिया जाता है। ईश्वर का ध्यान करते समय भक्त के हृदय में प्रेम और भक्ति की भावना जागृत होती है। प्रेमाश्रयी निर्गुण भक्ति शाखा के सबसे प्रसिद्ध कवि मीरा बाई हैं। मीरा बाई को निर्गुण भक्ति के संदर्भ में समझना थोड़ा जटिल है क्योंकि बाद में वे कृष्ण की उपासना में लीन हो गईं। परंतु उनकी प्रारंभिक कविताओं में प्रेमाश्रयी निर्गुण भक्ति के दर्शन मिलते हैं। मीरा ने सामाजिक मानदंडों से परे होकर ईश्वर के साथ सीधा संबंध स्थापित किया। वे एक उच्च कुल की महिला थीं लेकिन सामाजिक परंपराओं का पालन न करके ईश्वर की भक्ति में लीन हो गईं।

प्रेमाश्रयी निर्गुण भक्ति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें भक्त और ईश्वर के बीच एक मधुर संबंध दिखाई देता है। भक्त का हृदय ईश्वर के लिए तड़प जाता है। उसे ईश्वर का वियोग असहनीय लगता है। प्रेमाश्रयी भक्त ईश्वर के वियोग में व्याकुल रहता है और उसके मिलन के लिए हर समय प्रतीक्षा करता है। इस शाखा में दास्य भाव, सखा भाव और वत्सल्य भाव नहीं बल्कि एक शुद्ध और पवित्र प्रेम की भावना दिखाई देती है।

निर्गुण भक्ति धारा का सामाजिक प्रभाव

निर्गुण भक्ति धारा ने भारतीय समाज पर गहरा और दूरगामी प्रभाव डाला है। इस धारा के भक्तों ने सामाजिक परिवर्तन का अग्रदूत बनकर एक नई चेतना का संचार किया। निर्गुण भक्ति के आचार्यों ने जातिगत भेदभाव, अंधविश्वास और धार्मिक कर्मकांडों का विरोध किया। कबीर ने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणवाद की आलोचना की और सामाजिक समानता का संदेश दिया। उन्होंने कहा कि जाति, धर्म और लिंग के आधार पर कोई भेद नहीं होना चाहिए। सभी मनुष्य समान हैं और सभी को ईश्वर से सीधा संबंध स्थापित करने का अधिकार है। निर्गुण भक्ति धारा ने महिलाओं को भी

सामाजिक मुक्ति का मार्ग दिखाया। इस धारा में महिला भक्तों को समान स्थान दिया गया। मीरा बाई, झुलनी बाई और लखीबाई जैसी महिला भक्तों ने अपने समय की सामाजिक परंपराओं को चुनौती दी और ईश्वर की भक्ति में पूरी तरह समर्पित हो गईं। निर्गुण भक्ति धारा ने भाषा और साहित्य को भी समृद्ध किया। इस धारा के भक्त कवियों ने सरल और सहज भाषा में अपने विचार प्रस्तुत किए। उन्होंने संस्कृत की परिष्कृत भाषा के बजाय आमजन की भाषा - हिंदी, पंजाबी, बांग्ला आदि में रचनाएं की। इससे धार्मिक ज्ञान सभी वर्गों तक पहुंचा।

3.4.2 सगुण भक्ति धारा

सगुण भक्ति भारतीय भक्ति परंपरा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और व्यापक धारा है। सगुण भक्ति का अर्थ है ऐसी भक्ति जिसमें ईश्वर को गुणों, आकार, रूप और विशेषताओं के साथ माना जाता है। सगुण भक्ति के अनुयायियों का विश्वास है कि ईश्वर साकार रूप में प्रकट होते हैं। वह मनुष्य के समान रूप और गुण रखते हैं। सगुण भक्ति में देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। यह भक्ति धारा निर्गुण भक्ति से बिल्कुल भिन्न है। सगुण भक्ति धारा का विकास मुख्यतः दक्षिण भारत में हुआ। इस धारा के प्रसार में आलवार संतों और नायनार संतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सगुण भक्ति में ईश्वर के विभिन्न अवतारों की पूजा की जाती है। इसमें मूर्ति पूजा, भजन-कीर्तन, नृत्य और संगीत को महत्व दिया जाता है। सगुण भक्ति में ईश्वर से भक्ति, दास्य, सखा या पुत्र-पुत्री के संबंध में वार्तालाप किया जाता है। भक्त को ईश्वर प्रेमी, दयालु, न्यायी और सर्वशक्तिमान प्रतीत होते हैं।

सगुण भक्ति धारा के दो प्रमुख शाखाएं हैं - रामाश्रयी शाखा और कृष्णाश्रयी शाखा। ये दोनों शाखाएं ईश्वर के विभिन्न अवतारों की पूजा करती हैं।

रामाश्रयी शाखा

रामाश्रयी भक्ति शाखा भगवान राम को ईश्वर का अवतार मानती है और उनकी पूजा करती है। राम को विष्णु के सातवें अवतार माना जाता है। रामाश्रयी भक्ति में राम को आदर्श पुरुष, न्यायी राजा, आज्ञाकारी पुत्र और सत्य के रक्षक के रूप में देखा जाता है। भक्त राम की लीलाओं का चिंतन करता है और उनके गुणों का ध्यान करता है।

रामाश्रयी भक्ति में दास्य भाव को प्रमुखता दी जाती है। भक्त को राम का सेवक माना जाता है और वह राम की सेवा में अपना पूरा जीवन समर्पित कर देता है। रामाश्रयी भक्ति शाखा के सबसे प्रसिद्ध आचार्य तुलसीदास हैं। तुलसीदास एक महान भक्त कवि थे जिन्होंने रामचरितमानस की रचना की। रामचरितमानस को हिंदी साहित्य का एक अमूल्य ग्रंथ माना जाता है। इस महाकाव्य में भगवान राम की कथा का वर्णन किया गया है। तुलसीदास ने राम को साकार रूप में प्रस्तुत किया है। उनके राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, जो धर्म, कर्तव्य और न्याय के प्रतीक हैं। तुलसीदास के राम में देवत्व और मनुष्यता दोनों का समन्वय है।

तुलसीदास की भक्ति को समझना आवश्यक है। वे राम में परम ब्रह्म का दर्शन करते हैं लेकिन राम को एक मनुष्य के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। यह एक अद्भुत समन्वय है। तुलसीदास कहते हैं कि राम ईश्वर हैं लेकिन वे मानवीय गुणों को भी प्रदर्शित करते हैं। राम को अपनी माता की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। राम के जीवन में कठिनाइयां और संकट आते हैं लेकिन वे धर्म के मार्ग पर अटल रहते हैं। तुलसीदास की रचनाओं में दास्य भाव की अभिव्यक्ति बहुत सुंदर है। वे राम के सेवक हनुमान की भक्ति का विशेष प्रशंसा करते हैं। रामाश्रयी भक्ति के एक अन्य प्रसिद्ध कवि सूरदास के समकालीन कवि हैं लेकिन उनकी रचनाओं में राम भक्ति भी दिखाई देती है। रामानुज दर्शन भी रामाश्रयी भक्ति का एक महत्वपूर्ण आधार है। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का सिद्धांत दिया जिसमें ईश्वर के साथ आत्मा का संबंध अलग रहते हुए भी एक है। रामाश्रयी भक्ति की विशेषताएं अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस शाखा में भगवान राम के प्रति निरपेक्ष समर्पण की भावना दिखाई देती है। राम को भक्त के सर्वोच्च आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। रामाश्रयी भक्ति में नाम स्मरण, भजन-कीर्तन और मूर्ति पूजा को महत्व दिया जाता है। रामचरितमानस में राम की गुणगान के माध्यम से एक पूर्ण जीवन दर्शन प्रस्तुत किया गया है।

कृष्णाश्रयी शाखा

कृष्णाश्रयी भक्ति शाखा भगवान कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानती है और उनकी पूजा करती है। कृष्ण को विष्णु के आठवें अवतार माना जाता है। कृष्णाश्रयी भक्ति में कृष्ण को लीलामय, रास रचाने वाले, ब्रज के रक्षक और भक्त-वत्सल के रूप में देखा

जाता है। कृष्णाश्रयी भक्ति में कृष्ण की बाल लीलाओं, गोपियों के साथ रास और गीता के माध्यम से दिए गए ज्ञान का विशेष चिंतन किया जाता है। कृष्णाश्रयी भक्ति में पांच प्रकार के संबंध दिखाई देते हैं - शांत, दास्य, सखा, वत्सल्य और मधुर। कृष्णाश्रयी भक्ति शाखा के सबसे प्रसिद्ध कवि सूरदास हैं। सूरदास एक महान भक्त कवि थे जिन्होंने कृष्ण की बाल लीलाओं का अत्यंत मार्मिक और सुंदर चित्रण किया है। सूरदास की रचनाओं में कृष्ण की मासूमियत, खिलंदड़पन और दैवीय लीलाओं का वर्णन मिलता है। सूरदास के कृष्ण अत्यंत आकर्षक, मुरलीवादक और गोपियों को आकृष्ट करने वाले हैं। सूरदास की रचनाओं में मधुर भाव की भक्ति प्रधान है। भक्त कृष्ण को अपने प्रिय के रूप में देखता है। उसे कृष्ण का वियोग असहनीय लगता है और मिलन की कामना से व्याकुल रहता है।

सूरदास की रचनाओं में गोपियों की भक्ति का विशेष वर्णन है। गोपियां कृष्ण के विरह में दिन-रात दुःख सहती हैं। वे कृष्ण को अपना प्रिय मानती हैं। सूरदास कहते हैं, "सूर स्याम मुरलीवारो, ब्रज में धूम मचायो। कान्हा कर नाद सुनत ही, गोपी मन बस आयो।" सूरदास की रचनाओं में कृष्ण के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति अत्यंत कोमल और भावुक है। कृष्णाश्रयी भक्ति के एक अन्य प्रसिद्ध कवि मीरा बाई हैं। मीरा बाई एक उच्च कुल की राजकुमारी थीं लेकिन उन्होंने सामाजिक परंपराओं का त्याग करके कृष्ण की भक्ति में पूरी तरह लीन हो गईं। मीरा ने कृष्ण को अपना प्रिय और पति के रूप में माना। उनकी रचनाओं में कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम की भावना दिखाई देती है। मीरा कृष्ण के वियोग में न्यूनोदर रहती हैं और उनके मिलन के लिए तड़पती हैं। मीरा की भक्ति एक स्त्री द्वारा अपने प्रिय पुरुष को समर्पित प्रेम का रूप है।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कृष्णाश्रयी भक्ति का व्यापक प्रसार हुआ। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु कृष्ण भक्ति के महान प्रचारक थे। उन्होंने गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय की स्थापना की। चैतन्य महाप्रभु का मानना था कि कृष्ण के नाम का जाप ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। उन्होंने कीर्तन को एक प्रमुख भक्ति का साधन माना। चैतन्य की भक्ति में भावनात्मक उन्मादन और नृत्य-गीत को भी महत्व दिया गया है। महाराष्ट्र में कृष्ण भक्ति का प्रसार नामदेव, तुकाराम और ज्ञानेश्वर जैसे संतों द्वारा किया गया। तुकाराम की रचनाओं में कृष्ण के प्रति भक्ति का सरल और सहज रूप दिखाई देता है।

उन्होंने कहा कि विट्ठल (कृष्ण) को पाने के लिए किसी कठोर तपस्या की आवश्यकता नहीं है बल्कि सरल हृदय से प्रेम करना चाहिए।

कृष्णाश्रयी भक्ति की विशेषताएं

कृष्णाश्रयी भक्ति की विशेषताओं को समझना आवश्यक है। इस शाखा में कृष्ण की बहुमुखी लीलाओं का वर्णन किया जाता है। कृष्ण को देवताओं के देव माना जाता है। कृष्णाश्रयी भक्ति में भावनात्मकता और रोदन का विशेष स्थान है। भक्त कृष्ण के साथ विभिन्न संबंधों में रह सकते हैं। वह कृष्ण को अपने बालक के रूप में सेवा कर सकता है, अपने सखा के रूप में खेल सकता है, अपने प्रिय के रूप में प्रेम कर सकता है। यह बहु-स्तरीय भक्ति की परंपरा कृष्णाश्रयी भक्ति को बहुत समृद्ध बनाती है। कृष्णाश्रयी भक्ति में नृत्य, संगीत और रास लीला का विशेष महत्व है। भक्त नृत्य और संगीत के माध्यम से कृष्ण को समर्पित होते हैं। कृष्ण के संगीत प्रेम को ध्यान में रखते हुए भक्ति में संगीत को एक महत्वपूर्ण साधन माना गया है। कृष्णाश्रयी भक्ति में मूर्ति पूजा, भजन-कीर्तन, पूजा-पाठ और प्रसाद का वितरण किया जाता है। कृष्ण की प्रतिमाओं को नहलाया जाता है, उन्हें कपड़े पहनाए जाते हैं, उन्हें खिलाया जाता है और उनके साथ खेला जाता है। यह भक्ति की अभिव्यक्ति अत्यंत हृदयस्पर्शी और भावपूर्ण है।

सगुण भक्ति धारा में रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी शाखाओं का समन्वय

रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी भक्ति दोनों ही सगुण भक्ति की शाखाएं हैं लेकिन दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अंतर हैं। रामाश्रयी भक्ति में राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में देखा जाता है। राम धर्म, कर्तव्य और न्याय के प्रतीक हैं। उनका जीवन एक आदर्श जीवन है जिसका अनुकरण करना चाहिए। रामाश्रयी भक्ति में दास्य भाव को प्रमुखता दी जाती है। भक्त को राम का सेवक माना जाता है। इस भक्ति में व्यवस्था, नियम और संयम का पालन किया जाता है। दूसरी ओर कृष्णाश्रयी भक्ति में कृष्ण को लीलामय के रूप में देखा जाता है। कृष्ण की लीलाएं अलौकिक और मनोमुग्धकर हैं। कृष्ण अपनी लीलाओं से भक्तों को मुग्ध करते हैं। कृष्णाश्रयी भक्ति में विभिन्न प्रकार के भावों - दास्य, सखा, वत्सल्य और मधुर - का समावेश है। इस भक्ति में भावनात्मकता, उत्साह और रोदन को विशेष महत्व दिया जाता है।

परंतु इन दोनों शाखाओं में भी एक गहरा समन्वय है। दोनों ही विष्णु के अवतार हैं। दोनों ही भक्तों को मुक्ति प्रदान करते हैं। दोनों ही सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हैं। दोनों ही भक्तों के हृदय में वास करते हैं। दोनों ही भक्तों के कल्याण के लिए अवतरित हुए हैं। यह समन्वय सगुण भक्ति धारा की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

सगुण भक्ति धारा का दर्शन

सगुण भक्ति धारा के दार्शनिक आधार को समझना आवश्यक है। सगुण भक्ति का मूल सिद्धांत यह है कि ईश्वर एक व्यक्तित्व है जिसके गुण, नाम और कार्य हैं। ईश्वर मनुष्य के कल्याण के लिए विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं। सगुण भक्ति में भक्त और भगवान के बीच एक व्यक्तिगत संबंध है। भक्त भगवान से प्रेम करता है, उसकी भक्ति करता है और उसके आदेशों का पालन करता है। सगुण भक्ति में मूर्ति पूजा को महत्वपूर्ण माना जाता है। मूर्ति को देवता का रूप माना जाता है और उसकी पूजा के माध्यम से भक्त देवता तक पहुंचता है। मूर्ति पूजा सगुण भक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। भक्त मूर्ति को देखता है, उसे छूता है, उसे फूल चढ़ाता है, उसके सामने प्रणाम करता है और उसके सामने अपने मन की बातें कहता है। इस तरह से भक्त का मन मूर्ति पर केंद्रित हो जाता है और वह देवता से सीधा संबंध स्थापित कर लेता है।

सगुण भक्ति में तीर्थ स्थानों और पवित्र नदियों को भी महत्व दिया जाता है। भक्त तीर्थ यात्रा के माध्यम से देवता के निकट जाने का प्रयास करता है। तीर्थ स्थानों पर भक्त के मन में एक विशेष भक्ति भावना जागृत होती है। पवित्र नदियों में स्नान करके भक्त को अपने पापों से मुक्ति मिलती है माना जाता है। सगुण भक्ति में इन सब कार्यों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जा सकता है। भक्त को जब तीर्थ स्थान पर जाते हैं तो उसका मन सांसारिक चिंताओं से मुक्त हो जाता है। पवित्र नदी में स्नान करते समय भक्त को मानसिक शांति मिलती है।

सगुण भक्ति धारा का सामाजिक प्रभाव

सगुण भक्ति धारा ने भारतीय समाज पर अत्यंत सकारात्मक और रचनात्मक प्रभाव डाला है। इस धारा ने भक्ति की एक ऐसी धारणा दी जो सभी वर्गों और सभी जातियों

के लिए सुलभ है। सगुण भक्ति में सामान्य जनता को भी ईश्वर तक पहुंचने का मार्ग दिया गया। धार्मिक ज्ञान केवल ब्राह्मणों तक सीमित नहीं रहा बल्कि सभी के लिए सुलभ हो गया। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में एक समावेशी समाज की कल्पना की है। रामचरितमानस में राम राज्य का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने दिखाया है कि एक आदर्श समाज में कोई भेदभाव नहीं होता। सभी को समान अधिकार और सुविधाएं मिलती हैं। राम राज्य में न तो कोई दुःख है न असंतोष। राम एक न्यायी राजा हैं जो सभी की रक्षा करते हैं। महिलाओं के प्रति सगुण भक्ति धारा का दृष्टिकोण अत्यंत सकारात्मक है। मीरा बाई जैसी महिलाओं को इस धारा में समान सम्मान दिया गया। सगुण भक्ति ने महिलाओं को अपनी भक्ति व्यक्त करने का मार्ग दिया। महिला भक्तों की रचनाएं साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। सगुण भक्ति ने महिला भक्तों को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर दिया। सगुण भक्ति धारा ने संगीत, नृत्य और अन्य कलाओं को भी समृद्ध किया है। भक्ति संगीत का विकास सगुण भक्ति धारा में हुआ। भजन, कीर्तन और आरती जैसे गीतों को इस धारा में विशेष महत्व दिया गया। कृष्ण भक्ति में रास लीला का विकास हुआ जो आज भी लोकप्रिय है। ये कलाएं भक्ति की अभिव्यक्ति के महत्वपूर्ण माध्यम बन गईं।

निर्गुण और सगुण भक्ति का अंतर और समानता

निर्गुण और सगुण भक्ति दोनों ही भारतीय भक्ति परंपरा के महत्वपूर्ण अंग हैं परंतु दोनों में कुछ मौलिक अंतर हैं। निर्गुण भक्ति में ईश्वर को निराकार, गुणहीन और अनिर्वचनीय माना जाता है। सगुण भक्ति में ईश्वर को साकार, गुणवान और वर्णनीय माना जाता है। निर्गुण भक्ति में मूर्ति पूजा का विरोध किया जाता है जबकि सगुण भक्ति में मूर्ति पूजा को महत्व दिया जाता है। निर्गुण भक्ति में ईश्वर से सीधा और निजी संबंध स्थापित किया जाता है। सगुण भक्ति में ईश्वर के विभिन्न अवतारों की पूजा की जाती है। निर्गुण भक्ति में ज्ञान और विवेक को महत्व दिया जाता है जबकि सगुण भक्ति में भावना और प्रेम को महत्व दिया जाता है। निर्गुण भक्ति में योग, ध्यान और आत्मचिंतन को साधन माना जाता है। सगुण भक्ति में भजन, कीर्तन, नृत्य और मूर्ति पूजा को साधन माना जाता है। परंतु इन दोनों में बहुत समानताएं भी हैं। दोनों ही भक्ति परंपरा के अंग हैं। दोनों ही ईश्वर के प्रति समर्पण और प्रेम पर जोर देते हैं। दोनों ही सामाजिक समानता और भेदभाव के विरोध में हैं।

दोनों ही सामान्य जनता को धार्मिक ज्ञान प्रदान करते हैं। दोनों ही मनुष्य को मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति का मार्ग दिखाते हैं। निर्गुण और सगुण भक्ति का अंतर्संबंध यह है कि दोनों ही एक ही ईश्वर तक पहुंचते हैं। एक निराकार माध्यम से और दूसरा साकार माध्यम से लेकिन अंतिम लक्ष्य एक ही है। कबीर ने कहा है, "राम रहीम एक है नाम, सुख शांति सदा सबकी धाम।" यह कथन दोनों भक्ति धाराओं की एकता को दर्शाता है।

भक्ति आंदोलन का सांस्कृतिक महत्व

निर्गुण और सगुण दोनों ही भक्ति धाराओं ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता को अत्यंत समृद्ध किया है। भक्ति आंदोलन ने भारतीय साहित्य में नई जीवंतता का संचार किया। भक्ति काव्य ने हिंदी साहित्य को एक नई ऊंचाई तक पहुंचाया। तुलसीदास, सूरदास, कबीर, मीरा, रैदास आदि कवियों की रचनाएं आज भी समाज को प्रेरणा देती हैं। उनके काव्य में धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और भावनात्मक सभी मूल्यों का संचार है। भक्ति आंदोलन ने भारतीय समाज में सामाजिक जागरूकता का संचार किया। भक्ति कवियों ने सामाजिक विषमता, जातिगत भेदभाव और अंधविश्वास के विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की जहां सभी समान हों और सभी को समान अधिकार प्राप्त हों। यह सामाजिक सुधार की भावना आज भी प्रासंगिक है।

भक्ति आंदोलन ने भारतीय भाषाओं को समृद्ध किया। भक्ति कवियों ने आमजन की भाषा में रचनाएं की जिससे धार्मिक ज्ञान सभी तक पहुंच सका। हिंदी, बांग्ला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं में भक्ति काव्य का विकास हुआ। यह भाषाओं के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भक्ति आंदोलन ने भारतीय संगीत को भी नई दिशा दी। भजन, कीर्तन और आरती के रूप में भक्ति संगीत का विकास हुआ। हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत दोनों में भक्ति संगीत का विशेष स्थान है। आज भी भक्ति संगीत सुखद, शांतिदायक और आत्मीय वातावरण का सृजन करता है।

भक्ति आंदोलन और आधुनिकता

आधुनिक काल में भी भक्ति आंदोलन की विरासत को समझना और संरक्षित करना अत्यंत महत्वपूर्ण है। भक्ति कवियों की शिक्षाएं आज भी समाज को एकता, प्रेम और

सद्भावना का संदेश देती हैं। एक बहु-धार्मिक और बहु-सांस्कृतिक समाज में भक्ति आंदोलन की सार्वभौमिक दृष्टि बहुत महत्वपूर्ण है। भक्ति आंदोलन की शिक्षाएं आज भी पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक समानता, नैतिक मूल्यों और मानवीय गरिमा के विषय में हमें प्रेरणा देती हैं। कबीर ने जो सामाजिक विषमता के विरुद्ध आवाज उठाई थी, वह आज भी प्रासंगिक है। तुलसीदास ने जो आदर्श समाज की कल्पना की थी, वह आज भी हमारा लक्ष्य है।

निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा दोनों ही भारतीय भक्ति परंपरा के मौलिक और महत्वपूर्ण अंग हैं। ये दोनों धाराएं अलग-अलग मार्गों से परमात्मा तक पहुंचने की शिक्षा देती हैं। निर्गुण भक्ति मार्ग ज्ञान, चिंतन और आत्मविश्लेषण के द्वारा ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग दिखाती है। सगुण भक्ति मार्ग प्रेम, भावना और समर्पण के द्वारा साकार ईश्वर तक पहुंचने का मार्ग दिखाती है। निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा में कबीर, रैदास और धर्मदास जैसे महान संतों ने समाज को ज्ञान और विवेक का संदेश दिया। उन्होंने सामाजिक समानता, धार्मिक सहिष्णुता और मानवीय गरिमा के लिए आवाज उठाई। निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा में भक्त का ईश्वर के साथ एक शुद्ध और पवित्र प्रेम संबंध दिखाई देता है।

सगुण भक्ति की रामाश्रयी शाखा में तुलसीदास ने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत किया। राम के आदर्श जीवन से समाज को नैतिक मूल्यों की शिक्षा मिलती है। सगुण भक्ति की कृष्णाश्रयी शाखा में सूरदास, मीरा बाई और अन्य भक्त कवियों ने कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम और भक्ति की भावना को व्यक्त किया। भक्ति आंदोलन ने भारतीय समाज को एक नई दिशा दी। इसने धर्म को सरल और सहज बनाया। यह आंदोलन मनुष्य के हृदय तक पहुंचा। भक्ति के माध्यम से मनुष्य को ईश्वर से सीधा संबंध स्थापित करने का अवसर मिला। भक्ति आंदोलन ने सामाजिक समानता, भेदभाव के विरोध, महिला सशक्तिकरण और मानवीय गरिमा के लिए संघर्ष किया। आज के समय में जब समाज विभाजन, घृणा और हिंसा से जूझ रहा है, भक्ति आंदोलन की शिक्षाएं बहुत महत्वपूर्ण हो जाती हैं। भक्ति कवियों का संदेश - प्रेम, सहिष्णुता, समानता और सार्वभौमिक भाईचारा - आज भी हमारे समाज को प्रकाश दिखा सकता है। निर्गुण भक्ति चाहे हो या सगुण भक्ति, दोनों ही मनुष्य को एक-दूसरे के समीप लाते हैं। दोनों ही मनुष्य को प्रेम, करुणा और उदारता की शिक्षा देते हैं।

3.5 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

3.5.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भक्तिकाल की समय सीमा है:

क) 1000 ई. से 1375 ई.

ख) 1375 ई. से 1700 ई.

ग) 1700 ई. से 1900 ई.

घ) 1900 ई. से अब तक

2. भक्ति आंदोलन का मुख्य उद्देश्य था:

क) राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना

ख) सामाजिक समानता और ईश्वर भक्ति

ग) आर्थिक विकास

घ) सैन्य शक्ति बढ़ाना

3. निर्गुण भक्ति धारा के प्रमुख कवि हैं:

क) तुलसीदास

ख) सूरदास

ग) कबीरदास

घ) मीराबाई

4. सगुण भक्ति की कितनी शाखाएँ हैं?

क) एक

ख) दो

ग) तीन

घ) चार

5. रामचरितमानस के रचयिता कौन हैं?

क) कबीरदास

ख) तुलसीदास

ग) सूरदास

घ) नानक

6. कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं:

क) तुलसीदास

ख) कबीरदास

ग) सूरदास

घ) रहीम

7. भक्ति आंदोलन का प्रारंभ कहाँ से हुआ?

क) उत्तर भारत

ख) दक्षिण भारत

ग) पूर्व भारत

घ) पश्चिम भारत

8. प्रेमाश्रयी शाखा के कवि हैं:

क) कबीरदास

ख) मलिक मुहम्मद जायसी

ग) तुलसीदास

घ) सूरदास

9. भक्ति आंदोलन में किस भाषा का प्रयोग हुआ?

क) संस्कृत

ख) फारसी

ग) लोकभाषा

घ) अंग्रेजी

10. निर्गुण भक्ति की कितनी शाखाएँ हैं?

क) एक

ख) दो

ग) तीन

घ) चार

3.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भक्ति आंदोलन की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. भक्ति आंदोलन के उदय के सामाजिक कारणों पर संक्षेप में लिखिए।

3. निर्गुण और सगुण भक्ति में क्या अंतर है?
4. रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी शाखा में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. भक्ति साहित्य का सामाजिक प्रभाव क्या था?

3.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भक्तिकाल की सामान्य विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. भक्ति आंदोलन के उदय के सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. निर्गुण भक्ति की मुख्य धाराएँ और उनकी शाखाओं का परिचय दीजिए।
4. सगुण भक्ति की रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
5. भक्ति आंदोलन के साहित्यिक और सामाजिक प्रभावों पर विस्तृत निबंध लिखिए।

उत्तर-कुंजी :

ख) 1375 ई. से 1700 ई.

ख) सामाजिक समानता और ईश्वर भक्ति

ग) कबीरदास

ख) दो

ख) तुलसीदास

ग) सूरदास

ख) दक्षिण भारत

ख) मलिक मुहम्मद जायसी

ग) लोकभाषा

ख) दो

मॉड्यूल 4
भारत में सूफी मत का उदय

संरचना

इकाई: 4.1 सूफी मत का उदय और विकास

इकाई: 4.2 सूफी मत के सिद्धांत

इकाई: 4.3 प्रमुख सूफी कवि और काव्य

इकाई: 4.4 सूफी काव्य की विशेषताएँ

4.0 उद्देश्य

- भारत में सूफी मत के आगमन को समझना
- सूफी संतों के योगदान का अध्ययन
- सूफी आंदोलन के प्रभाव को जानना
- सूफी मत के मूल सिद्धांतों को समझना
- सूफी दर्शन का अध्ययन
- सूफी संतों की शिक्षाओं को जानना
- हिन्दी के प्रमुख सूफी कवियों का परिचय
- सूफी काव्य ग्रंथों का अध्ययन
- प्रमुख रचनाओं की विशेषताएँ जानना
- सूफी काव्य धारा की सामान्य विशेषताओं को समझना
- भाषा और शैली का अध्ययन
- काव्य तत्वों का विश्लेषण

इकाई 4.1: सूफी मत का उदय और विकास

सूफी परंपरा का भारत में विकास

सूफीवाद इस्लाम के रहस्यवादी पहलू को प्रतिनिधित्व करता है, जो ईश्वर से सीधे संबंध स्थापित करने पर बल देता है। सूफी संतों का भारत में आगमन मुख्यतः आठवीं और नवीं शताब्दी से शुरू हुआ, जब व्यापारियों और विद्वानों के माध्यम से इस्लामिक धार्मिक विचार भारतीय उपमहाद्वेश में प्रवेश करने लगे। प्रारंभिक सूफी संतों ने भारतीय धार्मिक परंपराओं के साथ एक अनोखी सांस्कृतिक संवाद स्थापित किया,

जिससे एक समन्वयवादी विचारधारा का विकास हुआ। ये संत तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक कट्टरपंथ से परे एक अधिक समावेशी और उदार दृष्टिकोण लेकर आए। भारत में सूफीवाद का विकास क्रमान्वित रूप से हुआ, और इसके विभिन्न चरणों में विभिन्न कादिरी, नक्शबंदी, सुहरवर्दी और चिश्ती आदि जैसी महत्वपूर्ण सूफी संप्रदायें उद्भूत हुईं। दिल्ली सल्तनत के दौरान, विशेषकर तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में, सूफी आंदोलन को एक संगठित रूप मिला। दिल्ली में कई सूफी खानकाहें (मठों) की स्थापना हुई, जहाँ धार्मिक शिक्षा और आध्यात्मिक प्रशिक्षण दिया जाता था। ये संस्थानें केवल धार्मिक केंद्र नहीं थीं, बल्कि सामाजिक कल्याण और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के महत्वपूर्ण केंद्र बन गई थीं।

चिश्ती संप्रदाय भारत में सूफीवाद का सबसे प्रभावशाली रूप साबित हुआ। इस संप्रदाय के संस्थापक अब्दुल-कादिर गिलानी के शिष्य मुईनुद्दीन चिश्ती थे, जो बारहवीं शताब्दी में भारत आए और अजमेर में उनका मुख्य केंद्र स्थापित हुआ। मुईनुद्दीन चिश्ती के बाद, निजामुद्दीन औलिया दिल्ली में चिश्ती परंपरा के सबसे प्रसिद्ध संत बने। निजामुद्दीन औलिया की शिक्षाओं ने भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव डाला और उन्होंने एक ऐसी परंपरा की स्थापना की, जो हिंदू-मुस्लिम सद्भावना का प्रतीक बन गई। सूफी संतों का आगमन भारत में एक नई धार्मिक चेतना का वाहक था। ये संत सामान्य जनता से सीधे जुड़ते थे और स्थानीय भाषाओं में अपनी शिक्षाएं प्रदान करते थे। सूफी संतों ने न केवल इस्लामिक धर्म का प्रचार किया, बल्कि भारतीय भक्ति आंदोलन के साथ एक सुसंगत संबंध विकसित किया। उन्होंने ईश्वर तक पहुँचने के लिए भक्ति, प्रेम और समर्पण के मार्ग को स्वीकार किया, जो भारतीय धार्मिक परंपरा के मूल्यों के अनुरूप था। इस प्रकार, सूफीवाद ने भारतीय धर्मों के साथ एक पुल का निर्माण किया और एक बहुसांस्कृतिक समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

मुगल काल में सूफीवाद अपने चरम पर पहुँचा। अकबर जैसे प्रगतिशील बादशाहों ने सूफी संतों को संरक्षण प्रदान किया और उनकी शिक्षाओं को प्रोत्साहित किया। सूफी खानकाहें तत्कालीन शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक सेवा के प्रमुख केंद्र बन गईं। सूफी संतों के द्वारा स्थापित इन संस्थानों ने गरीबों, बीमारों और असहायों को आश्रय

और सेवा प्रदान की। ये खानकाहें एक तरह से कल्याणकारी संस्थान का कार्य करती थीं, जहाँ धार्मिक भेदभाव के बिना सभी को स्वागत किया जाता था। सूफी परंपरा के विकास में फारसी भाषा और साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सूफी संतों ने फारसी काव्य के माध्यम से अपनी आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त किया, जिसमें मिस्टिक प्रतीकों और रूपकों का व्यापक उपयोग किया गया। अमीर खुसरो जैसे महान सूफी कवि और संगीतज्ञ ने न केवल फारसी साहित्य में वरन भारतीय संगीत और संस्कृति में भी अमूल्य योगदान दिया। उनकी रचनाएं हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक सद्भावना का जीवंत प्रमाण हैं। सूफी संतों की शिक्षाओं में एक महत्वपूर्ण पहलू था समानता और सामाजिक न्याय का संदेश। सूफी संत मानते थे कि सभी मनुष्य ईश्वर की दृष्टि में समान हैं, और जाति, धर्म और सामाजिक स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। इस विचारधारा के कारण सूफीवाद सामान्य जनता, विशेषकर दलितों और हाशिये पर रहने वाली जनता के बीच अत्यंत लोकप्रिय हो गया। सूफी संतों के सामाजिक दर्शन ने परंपरागत सामाजिक संरचना को चुनौती दी और एक अधिक समान समाज की कल्पना प्रस्तुत की।

भारत में सूफीवाद का विकास एक गतिशील प्रक्रिया रही है। सूफी संतों ने भारतीय सूफीवाद को अपनी विशिष्ट पहचान प्रदान की, जो अरब और फारसी सूफीवाद से अलग था। भारतीय सूफी संतों ने स्थानीय सांस्कृतिक परंपराओं, भाषाओं और रीति-रिवाजों को अपनी शिक्षाओं में समावेश किया, जिससे सूफीवाद अधिक जनप्रिय और प्रभावशाली बन गया। इस प्रक्रिया में, सूफीवाद न केवल एक धार्मिक आंदोलन रहा, बल्कि एक सांस्कृतिक और सामाजिक आंदोलन बन गया, जिसने भारतीय समाज को गहराई से प्रभावित किया।

4.1.2 सूफी आंदोलन का सामाजिक-सांस्कृतिक योगदान

समाज पर प्रभाव

सूफी आंदोलन का भारतीय समाज पर अत्यंत गहरा और सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इस आंदोलन ने तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाए। सूफी संतों की शिक्षाएं समाज के विभिन्न वर्गों तक पहुँची, विशेषकर निम्न वर्ग और हाशिये पर रहने वाली जनता के बीच। इन संतों ने एक ऐसी धार्मिक

विचारधारा प्रस्तुत की, जो सभी के लिए सुलभ थी और जिसमें किसी भी प्रकार का धार्मिक या सामाजिक भेदभाव नहीं था। सामाजिक समरसता और सद्भावना का प्रसार सूफी आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान था। सूफी संतों ने हिंदू और मुस्लिम समुदायों के बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया। उन्होंने ऐसी शिक्षाएं दीं जो दोनों धर्मों के लिए स्वीकार्य थीं और जो मानवीय मूल्यों पर आधारित थीं। निजामुद्दीन औलिया जैसे संतों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को अपने शिष्यों के रूप में स्वीकार किया। उनके दरबार में सभी धर्मों के लोग आते थे, और निजामुद्दीन औलिया उन्हें समान सम्मान देते थे। इस प्रकार, सूफी संतों ने एक सांस्कृतिक सेतु का निर्माण किया, जिसके माध्यम से विभिन्न धर्मों के लोग एक दूसरे के करीब आ सकते थे।

भारतीय भक्ति आंदोलन के साथ सूफीवाद का संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण था। दोनों आंदोलन मानवीय मूल्यों, समानता और भक्ति पर बल देते थे। सूफी संतों और भक्ति आंदोलन के नेताओं के बीच परस्पर प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, कबीर जैसे संत, जिन्होंने हिंदू-मुस्लिम दोनों परंपराओं को आत्मसात किया, सूफीवाद और भक्ति आंदोलन का एक अद्भुत सं्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं। कबीर के काव्य में सूफी रहस्यवाद और भक्ति भावना का संयोजन स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रकार, सूफीवाद ने भक्ति आंदोलन को समृद्ध किया और दोनों आंदोलनों ने मिलकर भारतीय समाज में एक नई चेतना का संचार किया।

सूफी आंदोलन ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सूफी खानकाहें न केवल धार्मिक शिक्षा के केंद्र थे, बल्कि सामान्य शिक्षा का भी प्रसार करती थीं। इन संस्थानों में गरीब और असहाय बच्चों को शिक्षा प्रदान की जाती थी, बिना किसी धार्मिक या सामाजिक भेदभाव के। सूफी संतों ने ज्ञान के महत्व को समझते हुए, शिक्षा को सामाजिक उत्थान का एक महत्वपूर्ण साधन माना। उन्होंने अपने शिष्यों को न केवल धार्मिक ज्ञान, बल्कि विभिन्न कलाओं और विज्ञानों की भी शिक्षा प्रदान की। इस प्रकार, सूफी आंदोलन ने भारत में शिक्षा के प्रसार और समाज के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सांस्कृतिक विकास में सूफीवाद का योगदान अतुलनीय है। सूफी संतों ने संगीत, काव्य, वास्तुकला और अन्य कलाओं को एक नई दिशा प्रदान की। सूफी संगीत, जिसे क़व्वाली के रूप में जाना जाता है, भारतीय संगीत का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। क़व्वाली एक ऐसा संगीत है, जो आध्यात्मिकता और

सांसारिकता का एक सुंदर मिश्रण प्रस्तुत करता है। अमीर खुसरो द्वारा विकसित क़व्वाली की परंपरा भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गई है। सूफी संतों की आध्यात्मिक काव्य परंपरा ने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया। सूफी कवियों ने फारसी, उर्दू और स्थानीय भाषाओं में ऐसी रचनाएं की, जिनमें मानवीय मूल्यों, प्रेम और समानता का संदेश था। सूफी संतों ने वास्तुकला के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह अजमेर में, निजामुद्दीन औलिया की दरगाह दिल्ली में, और अन्य कई सूफी संतों की दरगाहें भारत की वास्तुकला का एक महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। ये दरगाहें न केवल धार्मिक केंद्र हैं, बल्कि स्थापत्य कला के अद्भुत नमूने भी हैं। ये संरचनाएं इंडो-इस्लामिक वास्तुकला की विशेषताओं को प्रदर्शित करती हैं और हिंदू तथा मुस्लिम वास्तुकला का एक सुंदर संयोजन हैं। इन दरगाहों के निर्माण में भारतीय कारीगरों की कौशलता और सूफी संतों के आध्यात्मिक विचारों का संयोजन दिखाई देता है।

सामाजिक कल्याण और सेवा सूफी आंदोलन का एक महत्वपूर्ण पहलू था। सूफी संत गरीबों, बीमारों और असहायों की सेवा को अपना धार्मिक कर्तव्य मानते थे। सूफी खानकाहें लंगरों के माध्यम से भोजन वितरण करती थीं, जहाँ सभी को बिना भेदभाव के भोजन कराया जाता था। ये संस्थानें अस्पताल का कार्य भी करती थीं, जहाँ बीमारों की चिकित्सा की जाती थी। सूफी संतों की दृष्टि में, सेवा ही ईश्वर की पूजा थी, और किसी भी व्यक्ति की सेवा करना ईश्वर की सेवा करना था। इस विचारधारा के कारण, सूफी आंदोलन एक सामाजिक कल्याण आंदोलन भी बन गया, जिसने समाज के कमजोर और वंचित वर्गों के लिए बहुत कुछ किया। महिलाओं की स्थिति में सुधार में भी सूफी आंदोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सूफी संतों ने महिलाओं को आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया। राबिया अल-बसरी जैसी महिला सूफी संतों ने दिखाया कि महिलाएं भी पुरुषों के समान आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर सकती हैं। भारत में भी कई महिला सूफी संत थीं, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक शिक्षाओं के माध्यम से महिलाओं को सशक्त किया। सूफी आंदोलन ने महिलाओं को शिक्षा और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के समान अधिकार दिए, जो तत्कालीन परंपरागत समाज में एक क्रांतिकारी कदम था। सूफी आंदोलन के माध्यम से भारतीय समाज में एक नई नैतिकता और मूल्य प्रणाली का विकास हुआ।

सूफी संतों ने सत्य, न्याय, करुणा, और समानता के मूल्यों पर बल दिया। उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना प्रस्तुत की, जहाँ धार्मिक कट्टरता, सामाजिक भेदभाव और अन्याय का कोई स्थान नहीं होगा। हालांकि यह आदर्श पूरी तरह से साकार नहीं हो सका, लेकिन सूफी आंदोलन ने निश्चित रूप से भारतीय समाज को इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित किया। सूफी संतों की शिक्षाएं आज भी प्रासंगिक हैं और समकालीन समाज के विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए एक मार्गदर्शन प्रदान करती हैं। सूफी आंदोलन ने धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक बहुलवाद को बढ़ावा दिया। सूफी संतों का विश्वास था कि विभिन्न धर्मों के मूल में एक ही सत्य है, और सभी धर्म ईश्वर तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं। इस विचारधारा के कारण, सूफी संत अन्य धर्मों के प्रति सम्मानपूर्ण थे और उनके साथ एक शांतिपूर्ण सहअस्तित्व में विश्वास करते थे। इस उदार दृष्टिकोण ने भारत में एक बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक समाज के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारतीय समाज की भाषाई बहुलता में भी सूफी आंदोलन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सूफी संतों ने संस्कृत, हिंदी, बंगाली, पंजाबी और अन्य स्थानीय भाषाओं में अपनी शिक्षाएं प्रसारित कीं। वे फारसी के साथ-साथ स्थानीय भाषाओं के व्यवहार को भी प्रोत्साहित करते थे। इसके परिणामस्वरूप, हिंदी, उर्दू और अन्य भाषाओं का विकास हुआ, और ये भाषाएं साहित्य और संस्कृति की वाहक बन गईं। इस प्रकार, सूफी आंदोलन भाषाई विविधता और सांस्कृतिक समृद्धि का एक प्रमुख कारण बना। सूफी आंदोलन के प्रभाव से भारत में एक नई चेतना का उदय हुआ, जिसमें सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक विकास और धार्मिक सुधार शामिल थे। सूफी संतों की सामाजिक दृष्टि ने परंपरागत सामाजिक संरचना को चुनौती दी और एक अधिक न्यायसंगत समाज की ओर एक महत्वपूर्ण कदम बढ़ाया। हालांकि, सूफी आंदोलन का प्रभाव सर्वव्यापी नहीं था, और बहुत से लोग परंपरागत विचारधारा पर ही अमल करते रहे, लेकिन निश्चित रूप से सूफी आंदोलन ने भारतीय समाज को एक नई दिशा दी और एक नई संस्कृति का निर्माण किया।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में, जब भारत पर विदेशी प्रभाव बढ़ने लगा और पारंपरिक सामाजिक संरचना में परिवर्तन होने लगे, तो सूफी आंदोलन भी कुछ परिवर्तनों का सामना करना पड़ा। हालांकि, सूफी संतों की शिक्षाओं की प्रासंगिकता

कभी कम नहीं हुई। आज भी भारत में सूफी संतों की दरगाहें लाखों लोगों को आकर्षित करती हैं, और उनकी शिक्षाएं लोगों को एक बेहतर जीवन जीने के लिए प्रेरित करती हैं। सूफी आंदोलन आज भी सामाजिक सद्भावना, धार्मिक सहिष्णुता और मानवीय मूल्यों का एक प्रतीक है।

निष्कर्ष में, सूफी आंदोलन ने भारत में एक महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में कार्य किया। सूफी संतों ने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच एक सेतु का निर्माण किया, धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ावा दिया, सामाजिक कल्याण का प्रचार किया, और संस्कृति और कला को समृद्ध किया। सूफी आंदोलन ने भारत को एक बहुधार्मिक, बहुसांस्कृतिक और बहुभाषी देश के रूप में विकसित होने में सहायता की। सूफी संतों की दृष्टि और शिक्षाएं आज भी भारतीय समाज के लिए एक प्रेरणा और मार्गदर्शन हैं, और उनका प्रभाव भारतीय संस्कृति के सभी पहलुओं में देखा जा सकता है।

इकाई 4.2: सूफी मत के सिद्धांत

4.2.1 मोह-माया से विरक्ति

1. मोह-माया से विरक्ति: सूफी जीवन दर्शन

सूफीवाद, जिसे तसव्वुफ़ के नाम से भी जाना जाता है, इस्लामी रहस्यवाद की एक ऐसी धारा है जिसका मूल उद्देश्य आत्मा को भौतिक जगत की जंजीरों से मुक्त कर ईश्वर (हक़) के साथ एकाकार करना है। यह मार्ग केवल कर्मकांडों या बाहरी नियमों के पालन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह हृदय की शुद्धि, आंतरिक रूपांतरण और "नफ़्स" (निम्न-स्व) को नियंत्रित करने का एक आजीवन प्रयास है। सूफी दर्शन में, इस भौतिक संसार को "दुनिया" या "मोह-माया" माना गया है, जो आत्मा को उसके परम लक्ष्य (ईश्वर) से भटकाने वाला एक भ्रम या परीक्षा स्थल है। इसलिए, सूफी मार्ग का पहला और सबसे मूलभूत कदम इस मोह-माया से विरक्ति (ज़ुह्द) प्राप्त करना है। यह विरक्ति केवल वस्तुओं के भौतिक त्याग तक सीमित नहीं है, बल्कि उससे कहीं अधिक गहरी है, यह इच्छाओं, आसक्तियों और 'मैं' के भाव का त्याग है।

सूफी संतों के अनुसार, यह संसार, इसकी क्षणभंगुर सुंदरताएँ, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा और यहाँ तक कि सांसारिक रिश्ते भी आत्मा को एक मायावी जाल में उलझाए रखते हैं। इस जाल को "मोह-माया" कहते हैं। यह मोह-माया आत्मा को स्वार्थ, लालच और अहंकार से भर देती है, जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप, जो कि "नूर-ए-इलाही" (ईश्वरीय प्रकाश) का एक अंश है, को भूल जाती है। सूफी इस मोह-माया को आत्मा और परमात्मा के बीच का सबसे बड़ा पर्दा मानते हैं। जब तक यह पर्दा हटा नहीं लिया जाता, तब तक "वस्ल" (मिलन) या "फ़ना" (विलय) असंभव है। इस विरक्ति का लक्ष्य संसार को छोड़ना नहीं, बल्कि संसार में रहते हुए भी संसार को हृदय में जगह न देना है, ठीक वैसे ही जैसे नाव पानी पर तैरती है, लेकिन नाव के भीतर पानी नहीं होना चाहिए। सूफी जीवन दर्शन में विरक्ति की शुरुआत "नफ़्स-ए-अम्मारा" यानी उस निम्न-स्व या उद्दंड आत्मा को पहचानने और नियंत्रित करने से होती है जो भौतिक सुखों की ओर खींचती है। सूफी मानते हैं कि मानव आत्मा विभिन्न चरणों से गुजरती है: नफ़्स-ए-अम्मारा (बुराई की ओर प्रेरित करने वाली आत्मा), नफ़्स-ए-लव्वामा (निंदा करने वाली आत्मा), नफ़्स-ए-मुत्तमइन्ना (शांत/संतुष्ट आत्मा), और अंत में

नफ़्स-ए-क़ुद्दूसा (पवित्र आत्मा)। मोह-माया से विरक्ति का अर्थ है नफ़्स-ए-अम्मारा की मांगों को अस्वीकार करना और नफ़्स-ए-मुत्तमइन्ना की स्थिति प्राप्त करना। यह प्रक्रिया आत्म-शुद्धि की लंबी यात्रा है, जिसके लिए मुजाहिदा (कठोर साधना) और रियाज़त (अभ्यास) आवश्यक है। इसमें कम सोना, कम बोलना, और कम खाना शामिल है, ताकि भौतिक शरीर की मांगें कम हों और आत्मा की शक्ति बढ़े। सूफी संत ज़ुह्द को एक महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। ज़ुह्द का शाब्दिक अर्थ है वैराग्य या सांसारिक सुखों का त्याग। यह ज़ुह्द केवल दिखावा नहीं होता, बल्कि यह आंतरिक संकल्प होता है कि साधक भौतिक वस्तुओं को केवल आवश्यकतानुसार ही उपयोग करेगा, न कि लालचवश। उनका मानना है कि सच्चा धन वह नहीं जो तिजोरी में हो, बल्कि वह संतोष है जो हृदय में बसता है। प्रसिद्ध सूफी संत राज़िया ने कहा था कि जो दुनिया से प्रेम करता है, वह ईश्वर से दूर होता जाता है, और जो ईश्वर से प्रेम करता है, वह दुनिया से दूर होता जाता है। इस प्रकार, विरक्ति ईश्वर प्रेम की अनिवार्य शर्त बन जाती है।

विरक्ति का एक और गहरा आयाम है फ़ना (विलय या मिट जाना)। मोह-माया से विरक्ति की अंतिम पराकाष्ठा फ़ना है, जिसका अर्थ है अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं, पहचान और अहंकार को पूरी तरह से मिटा देना। सूफीवाद में फ़ना के तीन मुख्य चरण बताए गए हैं: फ़ना फ़िल् शैख़ (गुरु में विलीन होना), फ़ना फ़िर रसूल (पैगंबर में विलीन होना), और अंतिम और सर्वोच्च अवस्था फ़ना फ़िल् लाह (ईश्वर में विलीन होना)। जब साधक इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, तो उसे यह एहसास होता है कि उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है, बल्कि वह केवल "हक़" (सत्य) की इच्छा का एक उपकरण मात्र है। यह वह अवस्था है जहाँ 'मैं' समाप्त हो जाता है और केवल 'तू' (ईश्वर) ही शेष रहता है। यह केवल मृत्यु के बाद ही नहीं, बल्कि जीवनकाल में भी प्राप्त किया जा सकने वाला आध्यात्मिक अनुभव है। विरक्ति के अभ्यास में तवक्कुल (ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता) का सिद्धांत भी निहित है। जो साधक मोह-माया से विरक्त हो जाता है, वह भविष्य की चिंता या भौतिक सुरक्षा की चिंता छोड़ देता है। वह पूरी तरह से ईश्वर की इच्छा पर निर्भर हो जाता है, यह मानते हुए कि ईश्वर उसकी आवश्यकताओं को पूरा करेगा। यह अवस्था साधक को लालच और निराशा से मुक्त करती है। इस अनासक्ति के कारण, सूफी संत समाज की सेवा बिना किसी प्रतिफल

की अपेक्षा के कर पाते हैं। वे जानते हैं कि वे जो भी कर रहे हैं, वह स्वयं के लिए नहीं, बल्कि ईश्वर की प्रसन्नता के लिए है।

सूफी खानकाहों (मठों) और दरगाहों का जीवन इसी विरक्ति के सिद्धांत पर आधारित होता था। सादगी, भिक्षा पर जीवन यापन करना, और बाहरी आडंबरों से दूर रहना उनके दैनिक आचरण का हिस्सा था। चिश्तिया जैसे कुछ सूफी सिलसिलों में तो "फ़ाक़ा" (उपवास) को भी एक महत्वपूर्ण अभ्यास माना जाता था, जिसका उद्देश्य शरीर को वश में रखना और भौतिक लालसाओं को दबाना था। यह कठोर तपस्या उनके आंतरिक जीवन को शुद्ध करती थी और उन्हें ईश्वर के प्रति अधिक संवेदनशील बनाती थी। यह विरक्ति ही उन्हें सांसारिक शासकों के दबावों और लालच से दूर रखती थी, जिससे वे धर्म और नैतिकता के सच्चे संरक्षक बने रहते थे। अतः, सूफी जीवन दर्शन में मोह-माया से विरक्ति केवल एक प्रारंभिक चरण नहीं है, बल्कि यह इश्क़-ए-हक़ीक़ी (सच्चे प्रेम) की ओर ले जाने वाली अनिवार्य प्रक्रिया है। यह आत्मा को उस आज़माइश (परीक्षा) से मुक्त करती है जो भौतिक संसार उस पर डालता है। यह तर्क (त्याग) का मार्ग है, जिसके माध्यम से साधक अपने सीमित व्यक्तित्व (Ego) का त्याग करके अनंत और असीम सत्ता (ईश्वर) में समाहित होने के लिए तैयार होता है। इस विरक्ति का परिणाम संतुष्टि (क़नाअत) और शांति (सुकून) है, जो भौतिक जगत के किसी भी सुख से कहीं अधिक मूल्यवान है।

2. ईश्वर भक्ति और मानवता: प्रेम और भक्ति का महत्व

सूफी जीवन दर्शन का दूसरा और सबसे महत्वपूर्ण स्तंभ ईश्वर भक्ति (इश्क़-ए-हक़ीक़ी) और उस भक्ति के अनिवार्य परिणाम के रूप में मानवता की सेवा (ख़िदमत-ए-ख़ल्क़) है। यदि विरक्ति शून्य होने की प्रक्रिया है, तो प्रेम उस शून्य में अनंत को भरने की प्रक्रिया है। सूफीवाद में ईश्वर और मानव के बीच का संबंध आशिक़ (प्रेमी) और मा'शूक़ (प्रियतम) का है। यह एक ऐसा प्रेम है जो भय या प्रतिफल की आशा पर आधारित नहीं है, बल्कि अकारण, सहज और संपूर्ण समर्पण पर आधारित है। यही वह प्रेम है जिसे सूफी संत जीवन का सार और ब्रह्मांड की रचनात्मक शक्ति मानते हैं।

सूफी कविताओं और गीतों, जिन्हें क़व्वाली और ग़ज़लों के रूप में गाया जाता है, का केंद्रीय विषय यही इश्क़ (प्रेम) है। सूफी मानते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना इसलिए

की, क्योंकि वह स्वयं को प्रकट करना चाहता था। कुरान में एक हदीस-ए-क़ुदसी (पवित्र कथन) का सार है कि "मैं एक छिपा हुआ खजाना था, और मैंने चाहा कि मुझे जाना जाए, इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की।" यह चाहत ही प्रेम है, और मनुष्य को इस प्रेम को उसी तीव्रता से लौटाना है। यह प्रेम इश्क़-ए-मजाज़ी (सांसारिक प्रेम) से शुरू हो सकता है, जहाँ साधक एक मानवीय रूप या रिश्ते में दिव्यता की झलक देखता है, लेकिन इसका अंतिम लक्ष्य इश्क़-ए-हक़ीक़ी को प्राप्त करना है, जहाँ प्रेम केवल और केवल ईश्वर के लिए होता है। ईश्वर भक्ति के मार्ग में तौबा (पछतावा), सब्र (धैर्य), शुक्र (कृतज्ञता) और रज़ा (ईश्वरीय इच्छा में संतुष्टि) जैसी अवस्थाएँ शामिल हैं। साधक को पहले अपने पिछले पापों पर पश्चाताप करना होता है, फिर साधना के दौरान आने वाली कठिनाइयों को धैर्य से सहना होता है, हर परिस्थिति में ईश्वर का आभार व्यक्त करना होता है, और अंत में पूर्ण रूप से खुद को ईश्वर की इच्छा के अधीन कर देना होता है। यह 'भक्ति' ही साधक को विरक्ति के कठिन मार्ग पर चलने की शक्ति देती है। यह भक्ति हृदय को इतना कोमल बना देती है कि वह हर क्षण ईश्वर की उपस्थिति और उसकी सुंदरता को महसूस कर सके।

इस प्रेम और भक्ति को पोषित करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन ज़िक्र (ईश्वर का स्मरण) है। ज़िक्र का शाब्दिक अर्थ है याद करना। यह एक आध्यात्मिक अभ्यास है जिसमें साधक बार-बार ईश्वर के नाम या पवित्र वाक्यांशों का जाप करता है। यह जाप एकांत में (ज़िक्र-ए-ख़फ़ी) या सामूहिक रूप से महफ़िल-ए-समा (भक्ति संगीत सभा) में (ज़िक्र-ए-जली) किया जाता है। ज़िक्र का उद्देश्य केवल होंठों को हिलाना नहीं, बल्कि हृदय की धड़कन को ईश्वर के नाम के साथ लयबद्ध करना है, ताकि हृदय से हर पल ईश्वर का स्मरण होता रहे। इस निरंतर स्मरण से हृदय की अशुद्धियाँ दूर होती हैं, और ईश्वर के लिए अनन्य प्रेम स्थापित होता है। ज़िक्र के माध्यम से सूफी संत अक्सर हाल (आध्यात्मिक परमानंद) की स्थिति में पहुँच जाते हैं, जहाँ वे अस्थायी रूप से भौतिक चेतना से मुक्त होकर दिव्यता का अनुभव करते हैं। सूफी दर्शन में मानवता की सेवा ईश्वर भक्ति का सीधा विस्तार है, क्योंकि सूफी "वहदत-उल-वुजूद" (सत्ता की एकता) के सिद्धांत में विश्वास रखते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, ब्रह्मांड में केवल एक ही सत्ता (ईश्वर) है, और हर चीज़ उसी की अभिव्यक्ति है। यदि हर मानव, जीव, और वस्तु ईश्वर का ही एक रूप है, तो किसी भी प्राणी की सेवा सीधे ईश्वर की सेवा है।

इसलिए, सूफी संतों ने ईश्वर को खोजने के लिए जंगलों या गुफाओं में जाने के बजाय, "ख़ल्क़" (सृष्टि/मानवता) की सेवा के माध्यम से ईश्वर को अपने करीब पाया। प्रसिद्ध सूफी संत हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया ने कहा था कि "किसी दुखी व्यक्ति के दिल में ख़ुशी पैदा करना, सौ साल की नमाज़ से बेहतर है।" ख़िदमत-ए-ख़ल्क़ (मानवता की सेवा) सूफियों के लिए एक सैद्धांतिक विचार नहीं, बल्कि दैनिक आचरण था। वे अपनी खानकाहों को ऐसे खुले आश्रय स्थलों में बदल देते थे जहाँ गरीब, अमीर, हिंदू, मुस्लिम, ऊँच-नीच, सभी बिना किसी भेदभाव के भोजन और आश्रय पाते थे। लंगर (सामुदायिक रसोई) की परंपरा, मुसाफ़िरों (यात्रियों) और मरीज़ों की देखभाल, और ज़रूरतमंदों को गुप्त रूप से दान देना ये सब उनकी भक्ति के प्रमाण थे। वे मानते थे कि मानव की सेवा करते समय नम्रता (तवाज़ु) सबसे आवश्यक है। सेवा बिना किसी अहंकार या श्रेष्ठता के भाव के की जानी चाहिए, क्योंकि वे जानते थे कि वे केवल ईश्वर के सेवक हैं, और उनकी सेवा का वास्तविक प्रतिफल ईश्वर स्वयं देगा।

प्रेम और भक्ति का महत्व इसी समन्वयकारी दृष्टिकोण में निहित है। सूफी संतों ने कभी भी धर्म, जाति या पंथ के आधार पर भेदभाव नहीं किया। उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप में गंगा-जमुनी तहज़ीब को मजबूत किया। बाबा फरीद, कबीर, और गुरु नानक देव के विचारों में सूफी और भक्ति परंपराओं का अद्भुत मेल दिखाई देता है, जहाँ प्रेम को ही अंतिम धर्म माना गया है। उन्होंने रूढ़िवादी धार्मिक नेताओं के कठोर और भेदकारी सिद्धांतों को चुनौती दी और "सबको समाहित करने वाले प्रेम" की अवधारणा को प्रचारित किया। यह प्रेम ही वह पुल था जिसने विभिन्न समुदायों को एक साथ जोड़ा। संक्षेप में, मोह-माया से विरक्ति हृदय को खाली करती है, और ईश्वर का प्रेम उसे भरता है। यह प्रेम इतना शक्तिशाली होता है कि यह साधक को आत्म-केंद्रित नहीं रहने देता, बल्कि उसे पूरी सृष्टि की ओर उन्मुख कर देता है। सूफी दर्शन सिखाता है कि ईश्वर की इबादत (पूजा) उसके बनाए गए हर प्राणी से प्यार करने में है। सच्चा प्रेम हमें अहंकार से मुक्त करता है और हमें दूसरों के दुखों को अपना दुख समझने की क्षमता देता है। इस प्रकार, ईश्वर भक्ति और मानवता की सेवा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं एक आंतरिक शुद्धि का मार्ग है, तो दूसरा उस शुद्धि को व्यावहारिक रूप देने का माध्यम। प्रेम ही सूफी मार्ग का लक्ष्य है और साधन भी।

इकाई 4.3: प्रमुख सूफी कवि और काव्य

4.3.1 मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी हिंदी साहित्य के सूफी काव्य परंपरा के सर्वाधिक प्रतिभाशाली और महत्वपूर्ण कवि माने जाते हैं। उनका जन्म सन् 1492 ई. के आसपास उत्तर प्रदेश के जायस नामक स्थान पर हुआ था, जिसके कारण उन्हें जायसी के नाम से जाना जाता है। वे एक सूफी संत थे और इस्लाम के सूफी मत के अनुयायी थे। उनके समय में भारत में लोदी वंश का शासन था और बाद में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। जायसी ने अपने जीवन का अधिकांश समय आध्यात्मिक साधना और काव्य रचना में व्यतीत किया। वे अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के साक्षी रहे और उनकी रचनाओं में इन सभी पहलुओं की झलक मिलती है।

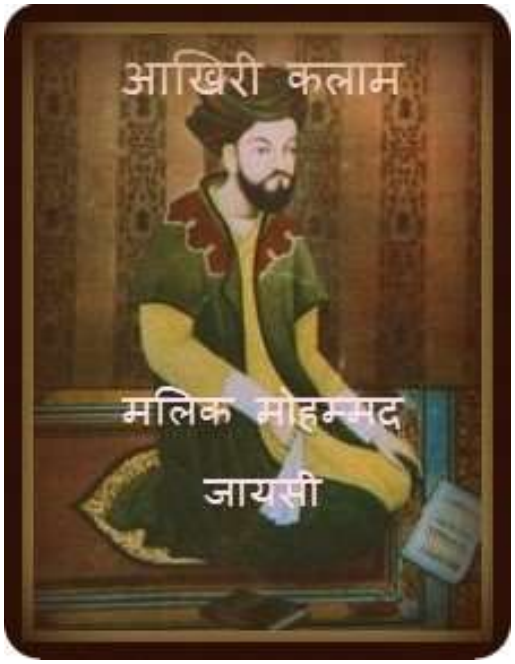

चित्र 4.2: मलिक मुहम्मद जायसी

जायसी की काव्य प्रतिभा असाधारण थी। उन्होंने अवधी भाषा को अपनी काव्य रचना का माध्यम बनाया और इस भाषा को एक उच्च साहित्यिक स्तर प्रदान किया। उनकी भाषा सरल, सहज और लोक जीवन से जुड़ी हुई है, फिर भी उसमें गहन दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है।

जायसी ने भारतीय लोक कथाओं और किंवदंतियों को आधार बनाकर अपनी रचनाएँ लिखीं, जिससे उनका काव्य जन-जन तक पहुँच सका। उनकी रचनाओं में सूफी दर्शन की गहराई है, लेकिन वे हिंदू-मुस्लिम एकता और सांस्कृतिक समन्वय के भी प्रबल समर्थक थे। जायसी की सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कृति 'पद्मावत' है, जिसे हिंदी साहित्य की अमर कृतियों में गिना जाता है। इसकी रचना सन् 1540 ई. में हुई थी। पद्मावत एक प्रेम काव्य है, लेकिन यह केवल सांसारिक प्रेम की कथा नहीं है, बल्कि इसमें सूफी दर्शन के अनुसार आत्मा और परमात्मा के प्रेम का प्रतीकात्मक वर्णन है। इस काव्य में चित्तौर के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती की प्रेम कथा का वर्णन है। पद्मावती अपनी अद्वितीय सुंदरता के लिए प्रसिद्ध है और रत्नसेन एक बहादुर और धर्मपरायण राजा है।

पद्मावत की कथा अत्यंत रोचक और मार्मिक है। राजा रत्नसेन एक दिन राघव चेतन नामक एक चतुर तोते से पद्मावती की अद्भुत सुंदरता के बारे में सुनता है। पद्मावती की सुंदरता का वर्णन सुनकर रत्नसेन उसे पाने के लिए व्याकुल हो जाता है और सिंहलद्वीप की यात्रा का निर्णय करता है। यह यात्रा अत्यंत कठिन और खतरनाक है। रास्ते में उसे अनेक बाधाओं और संकटों का सामना करना पड़ता है। वह समुद्र पार करता है, विभिन्न देशों से होकर गुजरता है और अंततः सिंहलद्वीप पहुँचता है। वहाँ पर उसे पद्मावती से मिलने के लिए कई परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। रत्नसेन और पद्मावती का प्रेम और विवाह होता है, लेकिन यह कथा यहीं समाप्त नहीं होती। जब वे चित्तौर लौटते हैं, तो अनेक नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। दिल्ली का सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी पद्मावती की सुंदरता के बारे में सुनता है और उसे प्राप्त करने की इच्छा से चित्तौर पर आक्रमण करता है। रत्नसेन अपनी पत्नी की रक्षा के लिए वीरतापूर्वक युद्ध करता है। इस युद्ध में रत्नसेन और उसके सैनिकों द्वारा दिखाई गई वीरता और बलिदान की भावना अत्यंत प्रेरणादायक है। अंततः जब रत्नसेन युद्ध में मारा जाता है और चित्तौर के पतन का खतरा उत्पन्न होता है, तो पद्मावती अन्य राजपूत महिलाओं के साथ जौहर करती है।

पद्मावत केवल एक प्रेम कथा नहीं है। सूफी परंपरा में इसे रूपक के रूप में देखा जाता है जहाँ पद्मावती परमात्मा का प्रतीक है, रत्नसेन साधक आत्मा का प्रतीक है, और सिंहलद्वीप की यात्रा आध्यात्मिक साधना का प्रतीक है। जायसी ने इस कथा के

माध्यम से यह संदेश दिया है कि परमात्मा को पाने के लिए साधक को अनेक कठिनाइयों और परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है। सांसारिक बाधाएँ और विघ्न आते हैं, लेकिन सच्चे प्रेम और समर्पण से अंततः परमात्मा की प्राप्ति होती है। पद्मावत में प्रेम को सर्वोच्च मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जायसी की भाषा शैली अत्यंत प्रभावशाली है। उन्होंने अवधी भाषा का प्रयोग इतनी कुशलता से किया है कि वह संस्कृत और ब्रज की समृद्धि को छू लेती है। उनकी भाषा में लोक जीवन की सहजता है, लेकिन साथ ही काव्यात्मक सौंदर्य भी है। पद्मावत में प्रकृति वर्णन, नायिका के सौंदर्य वर्णन, युद्ध वर्णन आदि सभी अत्यंत मनोहारी हैं। जायसी ने दोहा-चौपाई छंद का प्रयोग किया है, जो उस समय की लोकप्रिय काव्य शैली थी। उनके दोहे गहन अर्थ से भरे हुए हैं और उनमें जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गहन चिंतन मिलता है।

पद्मावत के अतिरिक्त जायसी ने कई अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ भी लिखीं। उनकी दूसरी प्रमुख रचना 'अखरावट' है। यह एक अत्यंत रोचक और अनूठी रचना है जिसमें जायसी ने वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रस्तुत किया है और उसके माध्यम से विभिन्न दार्शनिक और नैतिक विचारों को व्यक्त किया है। अखरावट में जायसी ने भाषा के रहस्य और अक्षरों के महत्व पर विचार किया है। उन्होंने यह दिखाया है कि कैसे अक्षर ज्ञान के वाहक हैं और कैसे वे मानव चेतना को विस्तार देते हैं। यह रचना भाषा विज्ञान और दर्शन का एक अद्भुत संगम है। 'आखिरी कलाम' जायसी की एक और महत्वपूर्ण रचना है। इस रचना में उन्होंने मृत्यु, जीवन की नश्वरता और परलोक के बारे में विचार किया है। यह एक गहन दार्शनिक रचना है जिसमें जायसी ने सूफी दर्शन के अनुसार मृत्यु को जीवन का अंत नहीं बल्कि एक नई यात्रा की शुरुआत बताया है। उन्होंने मनुष्य को सांसारिक मोह-माया से ऊपर उठने और परमात्मा की ओर उन्मुख होने का संदेश दिया है। आखिरी कलाम में जायसी की परिपक्व दार्शनिक दृष्टि का परिचय मिलता है।

'चित्ररेखा' जायसी की एक अन्य प्रेम काव्य रचना है। इसमें भी प्रेम कथा के माध्यम से आध्यात्मिक संदेश दिया गया है। हालांकि यह रचना पद्मावत जितनी लोकप्रिय नहीं हुई, लेकिन इसमें भी जायसी की काव्य कुशलता और दार्शनिक गहराई का परिचय मिलता है। चित्ररेखा में नायक-नायिका के प्रेम के माध्यम से आत्मा-परमात्मा के मिलन की कथा कही गई है। 'कन्हावत' जायसी की एक और रचना है जो कृष्ण लीला

पर आधारित है। इस रचना में जायसी ने हिंदू भक्ति परंपरा के साथ सूफी दर्शन का समन्वय किया है। उन्होंने कृष्ण को परमात्मा के रूप में देखा है और उनकी लीलाओं को आध्यात्मिक रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है। यह रचना हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता का एक सुंदर उदाहरण है। जायसी की रचनाओं की एक विशेष बात यह है कि उनमें तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण मिलता है। पद्मावत में राजपूत समाज की वीरता, शौर्य और सम्मान की भावना का सुंदर चित्रण है। साथ ही, उस समय के राजनीतिक संघर्ष और विदेशी आक्रमणों का भी विवरण मिलता है। जायसी ने स्त्री के सम्मान और उसकी गरिमा को बहुत महत्व दिया है। पद्मावती उनके काव्य में केवल एक सुंदर नायिका नहीं है, बल्कि वह साहस, बुद्धिमत्ता और आत्म-सम्मान की प्रतीक है।

जायसी के काव्य में प्रकृति वर्णन अत्यंत मनोहारी है। उन्होंने ऋतुओं, पर्वतों, नदियों, वनों और समुद्र का बहुत सुंदर वर्णन किया है। पद्मावत में सिंहलद्वीप की यात्रा के दौरान समुद्र का जो वर्णन किया गया है, वह अत्यंत जीवंत और चित्रात्मक है। जायसी ने प्रकृति को केवल पृष्ठभूमि के रूप में नहीं लिया, बल्कि उसे कथा का एक अभिन्न अंग बनाया है। प्रकृति उनके काव्य में मानवीय भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम बनती है। जायसी की रचनाओं में सूफी दर्शन के विभिन्न पहलू प्रतिबिंबित होते हैं। सूफी मत में ईश्वर से प्रेम और उससे मिलन की तीव्र आकांक्षा मुख्य है। जायसी ने इस प्रेम को सांसारिक प्रेम के रूपक के माध्यम से व्यक्त किया है। उनके काव्य में विरह वेदना का बहुत सुंदर वर्णन है, जो वास्तव में आत्मा की परमात्मा से दूरी की पीड़ा को व्यक्त करती है। सूफी साधना में गुरु का बहुत महत्व है और जायसी ने भी गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है।

जायसी ने अपने काव्य में सामाजिक बुराइयों का भी विरोध किया है। उन्होंने जाति-पाति, धार्मिक कट्टरता और सामाजिक विषमता का विरोध किया। उनका मानना था कि सभी मनुष्य समान हैं और ईश्वर सभी में समान रूप से विद्यमान है। यह दृष्टिकोण सूफी दर्शन की मूल भावना है। जायसी ने हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया और दोनों धर्मों की अच्छी बातों को स्वीकार किया। जायसी की काव्य भाषा में अनेक अलंकारों और काव्य शैलियों का प्रयोग मिलता है। उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सुंदर प्रयोग किया है। उनके दोहे में गहन अर्थ छिपे होते हैं और

उन्हें समझने के लिए गहन चिंतन की आवश्यकता होती है। जायसी के काव्य में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग है, जो उनकी भाषा को और अधिक सजीव और प्रभावशाली बनाता है। जायसी का हिंदी साहित्य में योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने अवधी भाषा को एक समृद्ध साहित्यिक भाषा का दर्जा दिलाया। उनके बाद अवधी में अनेक महत्वपूर्ण रचनाएँ हुईं और तुलसीदास जैसे महाकवि ने भी इसी भाषा में रामचरितमानस की रचना की। जायसी ने सूफी काव्य परंपरा को हिंदी साहित्य में स्थापित किया और उसे एक नई दिशा दी। उनके बाद अनेक सूफी कवियों ने इसी परंपरा में काव्य रचना की।

जायसी का प्रभाव केवल साहित्य तक सीमित नहीं रहा। उनकी रचनाओं ने समाज पर भी गहरा प्रभाव डाला। पद्मावत की कथा इतनी लोकप्रिय हुई कि वह लोक कथाओं और लोक गीतों का हिस्सा बन गई। राजस्थान में पद्मावती और रत्नसेन की कथा आज भी गाई जाती है। जायसी ने अपने काव्य के माध्यम से प्रेम, त्याग, बलिदान और मानवीय मूल्यों का संदेश दिया, जो आज भी प्रासंगिक है। जायसी की मृत्यु सन् 1542 ई. के आसपास हुई। उनका जीवन कठिनाइयों से भरा था। उन्हें शारीरिक रूप से भी कुछ समस्याएँ थीं और कहा जाता है कि वे एक आँख से अंधे थे। लेकिन इन कठिनाइयों ने उनकी काव्य प्रतिभा को प्रभावित नहीं किया। उन्होंने अपनी साधना और काव्य रचना में जीवन भर लगे रहे। उनका जीवन एक सच्चे सूफी संत का जीवन था, जो सांसारिक सुखों से दूर आध्यात्मिक साधना में लीन रहता है।

आधुनिक समीक्षकों ने जायसी के काव्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में जायसी को एक महान कवि के रूप में स्वीकार किया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जायसी पर विस्तृत कार्य किया और उनके साहित्यिक योगदान को रेखांकित किया। जायसी की तुलना अक्सर तुलसीदास और सूरदास जैसे महाकवियों से की जाती है, जो उनकी महत्ता को दर्शाता है। समकालीन साहित्य में भी जायसी की प्रासंगिकता बनी हुई है। उनके द्वारा उठाए गए प्रश्न और दिए गए संदेश आज भी महत्वपूर्ण हैं। प्रेम, सहिष्णुता, सांस्कृतिक समन्वय और मानवीय मूल्यों की स्थापना जैसे विषय आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने जायसी के समय में थे। विभिन्न विश्वविद्यालयों में जायसी के काव्य पर शोध कार्य हो रहे हैं और उनकी रचनाओं के नए आयामों की खोज की जा रही है।

4.3.2 अन्य सूफी कवि

जायसी के अतिरिक्त हिंदी साहित्य में अनेक अन्य सूफी कवि हुए जिन्होंने सूफी काव्य परंपरा को समृद्ध किया। इन कवियों ने जायसी की परंपरा को आगे बढ़ाया और अपनी मौलिक रचनाओं से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। इन कवियों में मंझन, कुतुबन, उस्मान और शेख नबी जैसे कवि प्रमुख हैं। मंझन सूफी काव्य परंपरा के एक महत्वपूर्ण कवि हैं। उनका पूरा नाम मीर सैयद मंझन शत्तारी रज्मी था। वे शत्तारी सूफी संप्रदाय से संबंधित थे। मंझन ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'मधुमालती' की रचना सन् 1545 ई. में की थी। यह रचना जायसी के पद्मावत की तरह एक प्रेम काव्य है, जिसमें सूफी दर्शन का रूपक है। मधुमालती में राजकुमार मनोहर और राजकुमारी मधुमालती की प्रेम कथा है। मनोहर एक स्वप्न में मधुमालती को देखता है और उसकी सुंदरता पर मोहित हो जाता है। वह मधुमालती को खोजने के लिए एक लंबी और कठिन यात्रा करता है।

चित्र 4.3: कुतुबन

मधुमालती की कथा अत्यंत रोचक और रोमांचक है। मनोहर को अपनी यात्रा में अनेक कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करना पड़ता है। वह जादुई जंगलों, खतरनाक पहाड़ों और रहस्यमय देशों से होकर गुजरता है। रास्ते में उसे अनेक सहायक मिलते

हैं जो उसकी मदद करते हैं। अंततः वह मधुमालती से मिलता है और उनका विवाह होता है। लेकिन इसके बाद भी अनेक संकट आते हैं जिनका उन्हें सामना करना पड़ता है। कथा का अंत सुखद है और मनोहर और मधुमालती एक साथ सुखपूर्वक रहते हैं। मंझन की काव्य शैली जायसी से प्रभावित है, लेकिन उनमें अपनी मौलिकता भी है। मंझन ने अवधी भाषा का प्रयोग किया है और उनकी भाषा सरल और सहज है। उन्होंने भी दोहा-चौपाई छंद का प्रयोग किया है। मधुमालती में प्रकृति वर्णन, नायक-नायिका के सौंदर्य वर्णन और युद्ध वर्णन अत्यंत प्रभावशाली हैं। मंझन ने सूफी दर्शन के अनुसार मधुमालती को परमात्मा का प्रतीक और मनोहर को साधक आत्मा का प्रतीक बनाया है। यात्रा आध्यात्मिक साधना का प्रतीक है और विभिन्न बाधाएँ सांसारिक विघ्नों का प्रतीक हैं।

मंझन का साहित्यिक योगदान महत्वपूर्ण है। उन्होंने सूफी काव्य परंपरा को आगे बढ़ाया और अपनी मौलिक कल्पना से उसे समृद्ध किया। मधुमालती हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है और इसका अध्ययन सूफी काव्य को समझने के लिए आवश्यक है। मंझन की भाषा में लोक तत्व की प्रधानता है और उनका काव्य जन-जन तक पहुँचा। कुतुबन सूफी काव्य परंपरा के एक अन्य महत्वपूर्ण कवि हैं। उन्होंने 'मृगावती' नामक प्रसिद्ध काव्य की रचना की। मृगावती की रचना सन् 1503 ई. में हुई थी, जो जायसी के पद्मावत से पहले की रचना है। इस प्रकार कुतुबन को सूफी प्रेम काव्य परंपरा का प्रवर्तक माना जा सकता है। मृगावती में राजकुमार चंदन और राजकुमारी मृगावती की प्रेम कथा है। मृगावती का जन्म एक मृगी के रूप में होता है, लेकिन बाद में वह सुंदर राजकुमारी बन जाती है।

मृगावती की कथा में अनेक जादुई और अलौकिक तत्व हैं। चंदन और मृगावती का प्रेम अनेक बाधाओं का सामना करता है। उन्हें विभिन्न राक्षसों और शत्रुओं से लड़ना पड़ता है। कथा में रोमांच और रहस्य के तत्व भरपूर हैं। कुतुबन ने भी सूफी दर्शन के अनुसार इस कथा को एक रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है। मृगावती परमात्मा की प्रतीक है और चंदन आत्मा का प्रतीक है। मृगी रूप से मानव रूप में परिवर्तन आध्यात्मिक उन्नति का प्रतीक है। कुतुबन की भाषा अवधी है और उनकी शैली सरल और लोकप्रिय है। उन्होंने लोक कथाओं और लोक विश्वासों का भरपूर प्रयोग किया है, जिससे उनका काव्य जन-साधारण को आकर्षित करता है।

मृगावती में प्रकृति चित्रण और नायिका के सौंदर्य वर्णन अत्यंत सुंदर हैं। कुतुबन ने अलंकारों का सुंदर प्रयोग किया है और उनके दोहे गहन अर्थ से परिपूर्ण हैं। कुतुबन का महत्व इस बात में है कि उन्होंने सूफी प्रेम काव्य परंपरा की नींव रखी। उनकी मृगावती ने बाद के सूफी कवियों को प्रेरणा दी और एक नई काव्य धारा का सूत्रपात किया। कुतुबन ने दिखाया कि कैसे लोक कथाओं को सूफी दर्शन के साथ जोड़ा जा सकता है और कैसे सरल भाषा में गहन आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त किया जा सकता है। मृगावती में जादुई यथार्थवाद के तत्व हैं, जो बाद में सूफी काव्य की एक विशेषता बन गई। उस्मान एक अन्य प्रतिभाशाली सूफी कवि थे। उनका पूरा नाम सैयद उस्मान था और वे कादिरी सूफी संप्रदाय से संबंधित थे। उस्मान ने 'चित्रावली' नामक प्रसिद्ध काव्य की रचना की। यह रचना सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखी गई थी। चित्रावली में राजकुमार सुजान और राजकुमारी चित्रावली की प्रेम कथा है। इस कथा में भी नायक को नायिका से मिलने के लिए एक लंबी और कठिन यात्रा करनी पड़ती है।

चित्रावली की कथा में अनेक रोचक घटनाएँ और मोड़ हैं। सुजान एक स्वप्न में चित्रावली को देखता है और उससे प्रेम कर बैठता है। वह चित्रावली को खोजने के लिए निकलता है और रास्ते में उसे अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। वह विभिन्न देशों और नगरों से होकर गुजरता है, जादुई प्राणियों से मिलता है और खतरनाक राक्षसों से लड़ता है। अंततः वह चित्रावली से मिलता है और उनका विवाह होता है। लेकिन विवाह के बाद भी अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका उन्हें मिलकर सामना करना पड़ता है। उस्मान की काव्य भाषा अत्यंत प्रभावशाली है। उन्होंने अवधी भाषा का सुंदर प्रयोग किया है और उनकी भाषा में काव्यात्मक सौंदर्य है। चित्रावली में वर्णनात्मक अंशों की प्रधानता है और उस्मान ने विभिन्न दृश्यों का बहुत जीवंत चित्रण किया है। उनके काव्य में संवाद भी बहुत प्रभावशाली हैं और पात्रों के चरित्र को उभारने में सहायक हैं। उस्मान ने सूफी प्रतीकवाद का सुंदर प्रयोग किया है और चित्रावली को परमात्मा की प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है।

उस्मान का योगदान सूफी काव्य को विविधता प्रदान करने में है। उन्होंने अपनी मौलिक कल्पना से नई कथाओं का निर्माण किया और सूफी दर्शन को नए तरीके से प्रस्तुत किया। चित्रावली में रोमांस के साथ-साथ दार्शनिक चिंतन भी है, जो इसे एक

समृद्ध काव्य बनाता है। उस्मान ने स्त्री चरित्र को बहुत सम्मान दिया है और चित्रावली एक सशक्त और स्वतंत्र नायिका के रूप में उभरती है। शेख नबी एक अन्य महत्वपूर्ण सूफी कवि थे। उन्होंने 'ज्ञानदीप' नामक रचना लिखी, जो सूफी दर्शन की व्याख्या करती है। शेख नबी का समय सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है। ज्ञानदीप केवल एक प्रेम काव्य नहीं है, बल्कि यह सूफी मत की शिक्षाओं को सरल भाषा में प्रस्तुत करती है। इस रचना में आध्यात्मिक साधना की विधि, गुरु का महत्व, और परमात्मा प्राप्ति के मार्ग का वर्णन है। शेख नबी ने अपनी रचनाओं में सूफी मत के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि सच्ची साधना के लिए मन की शुद्धता आवश्यक है। उन्होंने सांसारिक मोह-माया से मुक्त होने का संदेश दिया है। शेख नबी की भाषा सरल और सीधी है, जिससे सामान्य जन भी उनके विचारों को समझ सकते हैं। उन्होंने लोक भाषा का प्रयोग करते हुए गहन दार्शनिक विचारों को सुलभ बनाया।

दौलत, दामोदर कवि, पुहकर कवि, ईश्वरदास और नूर मुहम्मद जैसे अनेक अन्य सूफी कवि भी हुए जिन्होंने सूफी काव्य परंपरा को समृद्ध किया। दौलत ने 'लोर चंदा' की रचना की, जो एक प्रेम काव्य है। इस काव्य में भी प्रेमी-प्रेमिका की मिलन की कथा के माध्यम से आत्मा-परमात्मा के मिलन का रूपक प्रस्तुत किया गया है। दौलत की भाषा में लोक तत्व की प्रधानता है और उनका काव्य गाया जा सकने योग्य है। दामोदर कवि ने 'लखमसेन पद्मावती कथा' की रचना की। यह कथा भी जायसी के पद्मावत से प्रेरित है, लेकिन इसमें दामोदर की अपनी मौलिकता है। इस काव्य में भी राजपूत वीरता और त्याग की कथा है। दामोदर ने अपने काव्य में राजस्थानी संस्कृति और परंपराओं का सुंदर चित्रण किया है। उनकी भाषा में राजस्थानी के शब्द भी मिलते हैं, जो उनके काव्य को एक क्षेत्रीय रंग देते हैं। पुहकर कवि ने 'रसरतन' नामक रचना लिखी। यह रचना काव्यशास्त्र और सूफी दर्शन का संगम है। पुहकर ने काव्य रचना के सिद्धांतों को सूफी दृष्टिकोण से समझाया है। उन्होंने बताया है कि कैसे काव्य आध्यात्मिक साधना का माध्यम बन सकता है और कैसे शब्द और भाव परमात्मा की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। रसरतन एक विद्वतापूर्ण रचना है जो सूफी काव्य परंपरा की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करती है।

ईश्वरदास ने 'सत्यवती कथा' की रचना की। यह कथा राजा हरिश्चंद्र की कथा से प्रेरित है। इसमें सत्य, धर्म और त्याग के मूल्यों को प्रस्तुत किया गया है।

ईश्वरदास ने दिखाया है कि कैसे सत्य का पालन करना कठिन है, लेकिन अंततः सत्य की ही विजय होती है। यह रचना नैतिक मूल्यों की स्थापना करती है और समाज को सही मार्ग दिखाती है। नूर मुहम्मद ने 'अनुराग बांसुरी' और 'इंद्रावती' की रचना की। अनुराग बांसुरी में नूर मुहम्मद ने प्रेम को बांसुरी की धुन के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया है कि जैसे बांसुरी की मधुर धुन सबको आकर्षित करती है, वैसे ही परमात्मा का प्रेम भी आत्मा को अपनी ओर खींचता है। इंद्रावती एक प्रेम काव्य है जिसमें राजकुमार और राजकुमारी के प्रेम की कथा है। नूर मुहम्मद की भाषा अत्यंत मधुर और संगीतात्मक है। सूफी कवियों की रचनाओं में कुछ समान विशेषताएँ हैं। सभी सूफी कवियों ने प्रेम को अपना मुख्य विषय बनाया है। यह प्रेम केवल सांसारिक नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक प्रेम है। सूफी कवियों ने प्रेम को परमात्मा की प्राप्ति का माध्यम माना है। उनकी रचनाओं में नायक साधक आत्मा का प्रतीक है और नायिका परमात्मा का प्रतीक है। नायक की यात्रा आध्यात्मिक साधना का प्रतीक है और रास्ते में आने वाली बाधाएँ सांसारिक विघ्नों का प्रतीक हैं।

सूफी कवियों ने विरह वेदना का बहुत सुंदर वर्णन किया है। विरह सूफी काव्य का एक महत्वपूर्ण तत्व है। यह विरह वास्तव में आत्मा की परमात्मा से दूरी की पीड़ा है। सूफी कवियों ने विरह को अत्यंत मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है। नायक और नायिका की विरह व्यथा पढ़कर पाठक भी द्रवित हो जाता है। विरह वर्णन में सूफी कवियों ने प्रकृति का भी सहारा लिया है। बारिश, बादल, कोयल की कूक आदि विरह को और अधिक तीव्र बनाते हैं। सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में समाज के विभिन्न वर्गों का चित्रण किया है। राजा-महाराजा, सैनिक, व्यापारी, कारीगर, किसान आदि सभी उनके काव्य में स्थान पाते हैं। सूफी कवियों ने तत्कालीन समाज की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत की है। उन्होंने सामाजिक रीति-रिवाजों, त्योहारों, विवाह प्रथाओं आदि का वर्णन किया है। यह वर्णन हमें उस समय के समाज को समझने में सहायता करता है।

सूफी कवियों की भाषा लोक भाषा है। उन्होंने अवधी, राजस्थानी, ब्रज आदि लोक भाषाओं का प्रयोग किया। उनकी भाषा में संस्कृत, फारसी और अरबी के शब्द भी मिलते हैं, जो भाषा को समृद्ध बनाते हैं। सूफी कवियों ने भाषा को जटिल नहीं बनाया, बल्कि सरल और सहज रखा। उनका उद्देश्य था कि उनका संदेश आम जनता तक पहुँचे। इसलिए उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जो सभी को समझ में आ सके।

सूफी कवियों ने छंद के रूप में मुख्यतः दोहा-चौपाई का प्रयोग किया। यह छंद उस समय अत्यंत लोकप्रिय था और इसे गाया भी जा सकता था। दोहे में गहन अर्थ होते थे और चौपाइयों में कथा का विस्तार होता था। सूफी कवियों ने इस छंद का बहुत कुशलता से प्रयोग किया। उनके दोहे आज भी लोकप्रिय हैं और उन्हें उद्धृत किया जाता है। सूफी कवियों ने अलंकारों का भी सुंदर प्रयोग किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों से उनका काव्य सजा है। लेकिन अलंकारों का प्रयोग कृत्रिम नहीं है, बल्कि स्वाभाविक है। सूफी कवियों ने अलंकारों को अर्थ को स्पष्ट करने और काव्य को सुंदर बनाने के लिए प्रयोग किया है, न कि केवल प्रदर्शन के लिए। सूफी कवियों की रचनाओं में प्रकृति चित्रण का बहुत महत्व है। उन्होंने विभिन्न ऋतुओं, पर्वतों, नदियों, वनों, पशु-पक्षियों का सुंदर वर्णन किया है। प्रकृति उनके काव्य में केवल पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि वह मानवीय भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम बनती है। विरह में प्रकृति नायक या नायिका की पीड़ा को बढ़ाती है, जबकि मिलन में प्रकृति आनंद को व्यक्त करती है।

सूफी कवियों ने स्त्री चरित्र को बहुत सम्मान दिया है। उनकी नायिकाएँ केवल सुंदर नहीं हैं, बल्कि वे बुद्धिमान, साहसी और आत्मसम्मानी भी हैं। पद्मावती, मधुमालती, मृगावती, चित्रावली आदि सभी नायिकाएँ अपने व्यक्तित्व में सशक्त हैं। वे अपने निर्णय स्वयं लेती हैं और कठिन परिस्थितियों में भी साहस नहीं खोतीं। सूफी कवियों ने स्त्री को परमात्मा का प्रतीक माना है, जो उनके प्रति सम्मान को दर्शाता है। सूफी कवियों ने हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया। उन्होंने दोनों धर्मों की अच्छी बातों को स्वीकार किया और धार्मिक कट्टरता का विरोध किया। सूफी कवियों का मानना था कि ईश्वर एक है और सभी धर्म उसी तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं। उन्होंने हिंदू देवी-देवताओं और मुस्लिम संतों दोनों का सम्मान किया। उनकी रचनाओं में दोनों परंपराओं का सुंदर समन्वय मिलता है। सूफी कवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने सूफी मत के मूल सिद्धांतों को अपने काव्य में प्रस्तुत किया। सूफी मत में ईश्वर से प्रेम और उससे एकाकार होने की तीव्र आकांक्षा मुख्य है। सूफी मानते हैं कि ईश्वर इस संसार के कण-कण में विद्यमान है और उसे प्रेम के माध्यम से पाया जा सकता है। सूफी कवियों ने इस दर्शन को अपने काव्य में सुंदर रूप से प्रस्तुत किया। सूफी कवियों ने गुरु के महत्व को भी स्वीकार किया।

सूफी परंपरा में गुरु या पीर का बहुत महत्व है। गुरु ही शिष्य को सही मार्ग दिखाता है और आध्यात्मिक साधना में मार्गदर्शन करता है। सूफी कवियों ने अपने काव्य में गुरु की महिमा का गान किया है। उन्होंने बताया है कि बिना गुरु के परमात्मा की प्राप्ति संभव नहीं है। सूफी कवियों की रचनाओं का प्रभाव केवल साहित्य तक सीमित नहीं रहा। उनकी रचनाओं ने समाज पर भी गहरा प्रभाव डाला। सूफी कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से प्रेम, सहिष्णुता, भाईचारा और मानवीय मूल्यों का संदेश दिया। उनकी रचनाएँ लोकगीतों और लोक कथाओं का हिस्सा बन गईं। आज भी गाँवों में इन कथाओं को गाया जाता है। सूफी काव्य परंपरा का हिंदी साहित्य में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इस परंपरा ने हिंदी साहित्य को समृद्ध किया और उसे एक नई दिशा दी। सूफी कवियों ने भक्ति और प्रेम को एक साथ प्रस्तुत किया। उन्होंने दिखाया कि धर्म केवल कर्मकांड नहीं है, बल्कि प्रेम और आध्यात्मिकता है। सूफी कवियों ने साहित्य को जनता के करीब लाया और उसे जन-जन की संपत्ति बनाया।

सूफी कवियों की भाषा ने भी हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। उन्होंने अवधी और अन्य लोक भाषाओं को साहित्यिक भाषा का दर्जा दिलाया। उनकी भाषा में लोक जीवन की सहजता और साहित्यिक परिष्कार दोनों हैं। सूफी कवियों की भाषा ने बाद के कवियों को प्रेरित किया और हिंदी साहित्य में भाषा के विकास में योगदान दिया। सूफी कवियों ने काव्य रूपों को भी विकसित किया। प्रेमाख्यानक काव्य सूफी कवियों की देन है। इस काव्य रूप में कथा, भाव और दर्शन का सुंदर समन्वय होता है। सूफी कवियों ने इस काव्य रूप को इतना लोकप्रिय बनाया कि यह मध्यकालीन हिंदी साहित्य का प्रमुख काव्य रूप बन गया। बाद में अनेक कवियों ने इसी परंपरा में काव्य रचना की। सूफी कवियों का साहित्यिक योगदान बहुआयामी है। उन्होंने भाषा, काव्य रूप, विषय और दर्शन सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी रचनाएँ आज भी पढ़ी और सराही जाती हैं। विश्वविद्यालयों में सूफी काव्य पर शोध हो रहे हैं और नए आयामों की खोज की जा रही है। सूफी कवियों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

आधुनिक समय में भी सूफी कवियों के संदेश महत्वपूर्ण हैं। प्रेम, सहिष्णुता, धार्मिक सद्भाव और मानवीय मूल्य आज भी उतने ही आवश्यक हैं जितने मध्यकाल में थे। सूफी कवियों ने जो मार्ग दिखाया, वह आज भी प्रासंगिक है।

विभिन्नताओं के बीच एकता खोजना, प्रेम को सर्वोच्च मूल्य मानना और आध्यात्मिकता को जीवन का आधार बनाना - ये सभी संदेश आज भी महत्वपूर्ण हैं। सूफी कवियों की रचनाओं का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हुआ है। उनकी रचनाएँ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी पढ़ी और सराही जाती हैं। पद्मावत का अनुवाद अनेक भाषाओं में हो चुका है और विदेशी विद्वानों ने भी इस पर शोध किया है। सूफी काव्य ने भारतीय संस्कृति और साहित्य को विश्व पटल पर प्रस्तुत किया है। सूफी कवियों ने कला के अन्य रूपों को भी प्रभावित किया। उनकी कथाओं पर चित्रकला, संगीत और नाटक आदि विधाओं में काम हुआ है। मुगल काल में पद्मावत पर अनेक लघु चित्र बनाए गए। सूफी कवियों की रचनाओं को संगीत में भी प्रस्तुत किया गया है। उनकी कथाओं पर लोक नाट्य भी हुए हैं। इस प्रकार सूफी काव्य ने भारतीय कला और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित किया है।

सूफी कवियों की परंपरा आज भी जीवित है। आधुनिक कवियों ने भी सूफी परंपरा से प्रेरणा ली है। कुछ समकालीन कवियों ने सूफी काव्य की शैली में रचनाएँ लिखी हैं। सूफी दर्शन आज भी अनेक लोगों को आकर्षित करता है और सूफी संगीत की लोकप्रियता बढ़ रही है। सूफी कवियों की विरासत आज भी हमारे साथ है और हमें प्रेरित करती है। अंत में यह कहा जा सकता है कि सूफी कवियों ने हिंदी साहित्य को एक अमूल्य धरोहर दी है। उनकी रचनाएँ केवल साहित्यिक महत्व की नहीं हैं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक महत्व की भी हैं। सूफी कवियों ने प्रेम, सहिष्णुता और मानवीयता का जो संदेश दिया, वह सार्वभौमिक और शाश्वत है। उनकी रचनाएँ हमें आज भी प्रेरित करती हैं और मार्गदर्शन देती हैं। सूफी काव्य परंपरा हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण धारा है और इसका अध्ययन हिंदी साहित्य को समझने के लिए आवश्यक है।

इकाई 4.4: सूफी काव्य की विशेषताएँ

भक्ति-साहित्य का तात्त्विक और शैलीगत विश्लेषण

भक्ति काल भारतीय साहित्य और संस्कृति के इतिहास का वह स्वर्ण युग है, जिसने न केवल धर्म और दर्शन को एक नई दिशा दी, बल्कि साहित्य की अभिव्यक्ति को भी लोक-जीवन के करीब लाकर खड़ा कर दिया। इस युग के चिंतन में गहरी तात्त्विक स्पष्टता है, जबकि इसकी शैली में अद्भुत गीतात्मक मधुरता और सहजता है। यह आलेख इन दोनों ही पहलुओं तात्त्विक संदेश और शैलीगत वैशिष्ट्य का विशद विश्लेषण करता है, विशेषकर प्रेमाख्यान परंपरा के संदर्भ में।

4.4.1 भक्ति-समानता और तात्त्विक संदेश: आध्यात्मिक प्रेम का चित्रण

भक्ति काल का केंद्रीय संदेश भक्ति-समानता में निहित है। तात्त्विक रूप से, भक्ति ने कर्मकांड और बाह्य आडंबरों का खंडन करते हुए, ईश्वर तक पहुँचने के लिए हृदय की शुद्धि और निष्कपट प्रेम को एकमात्र मार्ग घोषित किया। यह संदेश जाति, वर्ण, लिंग या सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी भी भेद को अस्वीकार करता है। कबीर, रैदास और नानक जैसे संतों ने स्पष्ट किया कि परमात्मा किसी मंदिर या मस्जिद में नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर निवास करते हैं। यह 'तात्त्विक संदेश' एक मानवीय समरसता का आधार बना। यह तात्त्विक संदेश मुख्य रूप से अद्वैत या विशिष्टाद्वैत के दर्शन पर आधारित रहा, जिसे व्यवहार में आध्यात्मिक प्रेम के रूप में अभिव्यक्त किया गया।

1. **तात्त्विक संदेश**

आत्मा-परमात्मा का संबंध: भक्ति का मूल दर्शन

भक्ति आंदोलन का मूल दर्शन आत्मा (जीवात्मा) और परमात्मा (ब्रह्म/ईश्वर) के बीच के संबंध को प्रेम और समर्पण के माध्यम से परिभाषित करता है। यह संबंध केवल एक धार्मिक सिद्धांत नहीं है, बल्कि जीवन का परम लक्ष्य और आध्यात्मिक यात्रा का आधार है। भक्ति-दर्शन में इस संबंध को दो प्रमुख धाराओं में देखा गया है: निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति।

निर्गुण संत कवियों ने आत्मा-परमात्मा के संबंध को अद्वैत (Non-duality) के रूप में अभिव्यक्त किया है, जहाँ आत्मा और परमात्मा मूलतः एक ही हैं। उन्होंने इसे समग्रता में विलय के रूप में चित्रित किया है। उदाहरण के लिए, कबीरदास ने आत्मा को समुद्र की एक बूँद और परमात्मा को सागर बताया है। बूँद जब सागर में मिलती है, तो वह अपनी व्यक्तिगत पहचान खो देती है और सागर का ही हिस्सा बन जाती है। इस दर्शन में, प्रेम की परिणति आत्मा के ब्रह्म में लीन हो जाने में है, जहाँ "मैं" का भाव समाप्त होकर "हम" या "केवल वह" का भाव शेष रह जाता है। यह मोक्ष की वह अवस्था है जहाँ जीवात्मा अपनी सीमितता को त्यागकर निर्गुण ब्रह्म की अनंतता को प्राप्त कर लेती है। इसके विपरीत, सगुण भक्ति कवियों ने इस संबंध को द्वैत (Duality) या विशिष्टाद्वैत के रूप में देखा, जहाँ आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व प्रेम के लिए बना रहता है। उन्होंने इस संबंध को विभिन्न मानवीय भावों के माध्यम से चित्रित किया, जिससे यह अधिक सुलभ और भावनात्मक बन गया:

- **दास्य भाव (सेवक-स्वामी):** जैसे हनुमान का श्रीराम से संबंध, जहाँ भक्त पूरी तरह से समर्पित सेवक होता है।
- **सख्य भाव (मित्र-मित्र):** जैसे अर्जुन या सुदामा का कृष्ण से संबंध, जहाँ समानता और सहजता होती है।
- **वात्सल्य भाव (माँ-पुत्र):** जैसे यशोदा का कृष्ण से संबंध, जहाँ स्नेह और ममता का सर्वोच्च स्थान होता है।
- **मधुर भाव (प्रियतम-प्रेयसी):** जैसे राधा या मीरा का कृष्ण से संबंध, जिसे सबसे ऊँचा और अंतरंग माना गया है।

सगुण भक्ति में, प्रेम इतना गहरा है कि भक्त ईश्वर को न केवल पूजनीय मानता है, बल्कि उसे अपना जीवन-साथी, मित्र और बालक भी मानता है। यह संबंध स्थायी और मधुर होता है, जहाँ आत्मा का आनंद परमात्मा के साथ नित्य रास (लीला) में स्थित होता है। दोनों ही धाराओं में, यह संबंध ईश्वरीय प्रेम पर आधारित है, जो भक्ति का मूल आधार है।

प्रेम ही परमसत्य: मोक्ष का सहज मार्ग

भक्ति आंदोलन की सबसे क्रांतिकारी देन यह घोषणा थी कि प्रेम (प्रेममार्ग या भक्तिमार्ग) ही परम सत्य है और मोक्ष (मुक्ति) का सबसे सहज और सुलभ साधन है। यह संदेश उस समय दिया गया जब भारतीय समाज में आध्यात्मिक मुक्ति के लिए ज्ञान (ज्ञानमार्ग) और कर्म (कर्ममार्ग) की जटिल पद्धतियाँ प्रचलित थीं। ज्ञानमार्ग, जिसमें उपनिषद, वेद और दार्शनिक चिंतन शामिल हैं, एक बुद्धिजीवी मार्ग था। यह आम जनता के लिए कठिन था क्योंकि इसके लिए गहन अध्ययन, चिंतन और बौद्धिक योग्यता की आवश्यकता होती थी। कर्ममार्ग, जिसमें विभिन्न प्रकार के कर्मकांड, यज्ञ और अनुष्ठान शामिल थे, अक्सर पुरोहित वर्ग के नियंत्रण में थे और इसके लिए पर्याप्त धन और सामाजिक स्थिति की आवश्यकता होती थी। ये दोनों ही मार्ग आम, गरीब और अशिक्षित व्यक्ति की पहुँच से बाहर थे।

भक्ति संतों ने इन जटिलताओं को पूरी तरह से दरकिनार कर दिया और घोषणा की कि ईश्वर को पाने के लिए केवल शुद्ध प्रेम और सच्चा समर्पण ही काफी है। उनका तर्क था कि परमेश्वर न तो पंडिताई से मिलते हैं, न कठिन अनुष्ठानों से, बल्कि केवल हृदय के सच्चे भाव से मिलते हैं। यह प्रेम केवल एक भावना नहीं है, बल्कि एक आध्यात्मिक अवस्था है। यह वह अवस्था है जहाँ साधक अपने अहंकार को गलाकर, पूरी तरह से ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है। इस प्रेम में कोई स्वार्थ नहीं होता, यह निर्मल और अखंड होता है। भक्त के लिए, ईश्वर का नाम-स्मरण करना, उसकी लीलाओं का गान करना और उसके प्रति पूरी तरह से समर्पित रहना ही सबसे बड़ी साधना बन जाता है।

यह प्रेममार्ग इसलिए भी परमसत्य है क्योंकि यह मानव स्वभाव के अनुकूल है। प्रेम एक सार्वभौमिक मानवीय भाव है, जो ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक, राजा से लेकर रंक तक सभी के पास समान रूप से उपलब्ध है। अतः, भक्ति आंदोलन ने मानवता के केंद्रीय भाव प्रेम को दैवीय लक्ष्य की प्राप्ति का केंद्र बिंदु बनाकर आध्यात्मिक मुक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। इस मार्ग पर चलने के लिए किसी शास्त्र, किसी गुरु या किसी धन की आवश्यकता नहीं है, केवल सच्ची लगन और प्रेम की प्यास चाहिए।

सामाजिक समानता का आधार: भक्ति-समानता

भक्ति आंदोलन का तात्त्विक संदेश केवल आध्यात्मिक मुक्ति तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि यह एक शक्तिशाली सामाजिक क्रांति का वाहक भी बना। जब भक्ति संतों ने यह स्पष्ट कर दिया कि ईश्वर के सामने प्रेम ही एकमात्र कसौटी है, तो सदियों से चली आ रही सामाजिक पदानुक्रम स्वतः ही अर्थहीन हो गई। पारंपरिक भारतीय समाज जाति, लिंग और धन पर आधारित कठोर भेदों से विभाजित था। आध्यात्मिक ज्ञान और धार्मिक अनुष्ठानों पर एक विशेष वर्ग का एकाधिकार था, जिससे समाज के बड़े हिस्से, विशेषकर दरिद्रों, नारियों और निम्न समझी जाने वाली जातियों को धार्मिक और सामाजिक जीवन से बाहर रखा गया था।

भक्ति आंदोलन ने इस भेदभाव को सीधे चुनौती दी। संतों ने घोषणा की:

- **"जाति-पाति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।"**

इसका अर्थ है कि ईश्वर की दृष्टि में कोई जाति या वंश महत्वपूर्ण नहीं है, जो भी ईश्वर का भजन करता है, वह ईश्वर का ही हो जाता है।

इस भक्ति-समानता के दर्शन ने समाज के हर तबके को आध्यात्मिक अधिकार प्रदान किए:

भक्ति आंदोलन: सामाजिक समानता और आध्यात्मिक क्रांति का महाकाव्य

भारतीय इतिहास में भक्ति आंदोलन एक ऐसा सामाजिक और आध्यात्मिक परिवर्तन था जिसने समाज की जड़ों को हिलाकर रख दिया। मध्यकाल में जब भारतीय समाज जाति-पाति, ऊँच-नीच, और कर्मकांडों के जटिल जाल में उलझा हुआ था, तब भक्ति आंदोलन ने एक नई रोशनी दिखाई। यह आंदोलन केवल धार्मिक या आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं था, बल्कि एक व्यापक सामाजिक क्रांति थी जिसने जातिगत समानता, नारी उत्थान और पुरोहित वर्ग के वर्चस्व को चुनौती देने का साहस दिखाया। भक्ति आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसने समाज के उन वर्गों को आवाज दी जो सदियों से हाशिए पर रहे थे। निम्न जाति के संत, महिला भक्त और साधारण जनता - इन सभी ने मिलकर एक ऐसी आध्यात्मिक धारा बनाई जो

सामाजिक बंधनों को तोड़ती हुई आगे बढ़ी। संत रविदास, कबीर, सेना, मीराबाई, अक्का महादेवी, सहजो बाई और अनेक अन्य संतों ने अपने जीवन और रचनाओं के माध्यम से यह सिद्ध किया कि ईश्वर की भक्ति में जाति, लिंग और सामाजिक स्थिति का कोई महत्व नहीं है।

जातिगत समानता: भक्ति का लोकतंत्र

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था सदियों से एक कठोर सामाजिक संरचना रही है। इस व्यवस्था ने समाज को अनेक खंडों में विभाजित कर दिया था, जहाँ एक व्यक्ति का जन्म ही उसके भविष्य, अवसरों और यहाँ तक कि उसके आध्यात्मिक अधिकारों को भी निर्धारित कर देता था। शास्त्रीय हिंदू धर्म में यह माना जाता था कि वेदों का अध्ययन और उच्च आध्यात्मिक ज्ञान केवल ब्राह्मणों का अधिकार है। निम्न जातियों, विशेषकर शूद्रों और अति-शूद्रों को मंदिरों में प्रवेश, धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन और यहाँ तक कि मोक्ष प्राप्ति का अधिकार भी नहीं था। इस कठोर और अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध भक्ति आंदोलन ने एक क्रांतिकारी विचारधारा प्रस्तुत की। संत रविदास, जो चमार जाति से थे, ने अपनी रचनाओं में यह स्पष्ट किया कि ईश्वर की नजर में सभी मनुष्य समान हैं। रविदास का जन्म वाराणसी में एक चर्मकार परिवार में हुआ था, जिसे समाज में सबसे निम्न माना जाता था। लेकिन उनकी भक्ति, ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया कि मोक्ष का मार्ग जन्म से नहीं, बल्कि भाव से तय होता है।

रविदास ने अपनी वाणी में कहा था कि जाति-पाति का भेदभाव मनुष्य निर्मित है, ईश्वर ने सभी को समान बनाया है। उन्होंने अपने पदों में लिखा कि चाहे कोई ब्राह्मण हो या चमार, यदि उसके हृदय में सच्ची भक्ति है तो वह ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। रविदास की शिक्षाओं ने न केवल निम्न जातियों को आत्मविश्वास दिया, बल्कि उच्च जातियों को भी यह सोचने पर मजबूर किया कि जाति आधारित श्रेष्ठता एक झूठा दंभ है। उनके अनुयायियों में सभी जातियों के लोग शामिल थे, जो एक साथ बैठकर भजन गाते थे और सत्संग करते थे। यह अपने आप में एक क्रांतिकारी कदम था, क्योंकि उस समय विभिन्न जातियों के लोगों का एक साथ बैठना और खाना समाज में वर्जित था। कबीर, जो जुलाहा जाति से संबंधित थे, ने भी जातिगत समानता का संदेश दिया।

कबीर का जन्म एक विवादास्पद परिस्थिति में हुआ था - कुछ मान्यताओं के अनुसार वे एक विधवा ब्राह्मणी की संतान थे जिन्हें एक मुस्लिम जुलाहा दंपत्ति ने पाला। इस तरह कबीर के जीवन में ही हिंदू और मुस्लिम दोनों परंपराओं का संगम था। कबीर ने अपनी साखियों और दोहों में जाति व्यवस्था की कड़ी आलोचना की। उन्होंने कहा, "जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान। मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।" इस दोहे में कबीर ने स्पष्ट किया कि किसी व्यक्ति की योग्यता उसकी जाति से नहीं, बल्कि उसके ज्ञान और गुणों से आंकी जानी चाहिए। कबीर ने हिंदू और मुस्लिम दोनों धर्मों की रूढ़िवादिता और जातिगत भेदभाव की आलोचना की। उन्होंने कहा कि न तो मंदिर में जाने से मोक्ष मिलता है और न ही मस्जिद में नमाज पढ़ने से। ईश्वर तो हर जगह है और उसे पाने के लिए बाहरी आडंबरों की नहीं, बल्कि सच्चे मन की जरूरत है। कबीर के दोहों ने समाज में एक नई चेतना जगाई। उनके अनुयायियों में हिंदू, मुस्लिम, उच्च जाति और निम्न जाति सभी शामिल थे। कबीर पंथ की स्थापना के बाद एक ऐसा समुदाय बना जहाँ जाति का कोई महत्व नहीं था, केवल भक्ति और सद्भाव का महत्व था।

सेना नाई, जिन्हें सेन नाई या सेना भगत के नाम से भी जाना जाता है, एक और उदाहरण हैं जो यह दर्शाते हैं कि भक्ति आंदोलन ने कैसे निम्न जातियों को आध्यात्मिक मंच प्रदान किया। सेना नाई पेशे से नाई थे, जो उस समय एक सेवा जाति मानी जाती थी। परंतु उनकी भक्ति और आध्यात्मिक ज्ञान इतना गहरा था कि उन्हें गुरु रामानंद के शिष्यों में गिना जाता है। सेना की रचनाओं में भी जातिगत भेदभाव का विरोध स्पष्ट दिखता है। उन्होंने अपने पदों में कहा कि ईश्वर की भक्ति में जाति का कोई स्थान नहीं है, और एक सच्चा भक्त चाहे किसी भी जाति का हो, वह ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। इन संतों की शिक्षाओं ने समाज में एक नई सोच का विकास किया। पहली बार निम्न जाति के लोगों को यह अहसास हुआ कि वे भी आध्यात्मिक रूप से किसी से कम नहीं हैं। भक्ति आंदोलन ने यह संदेश दिया कि मोक्ष या ईश्वर प्राप्ति के लिए जन्म, जाति या सामाजिक स्थिति कोई बाधा नहीं है। जो महत्वपूर्ण है वह है सच्ची भक्ति, निष्ठा और प्रेम। इस विचारधारा ने न केवल निम्न जातियों को सम्मान दिया, बल्कि पूरे समाज को यह सोचने पर मजबूर किया कि जाति आधारित विभाजन अनुचित और अमानवीय है।

भक्ति आंदोलन के संतों ने अपने जीवन से यह उदाहरण प्रस्तुत किया कि एक निम्न जाति का व्यक्ति भी उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। रविदास, कबीर और सेना जैसे संतों के सत्संगों में सभी जातियों के लोग एक साथ बैठते थे, एक साथ भोजन करते थे और एक साथ भजन गाते थे। यह अपने आप में एक क्रांतिकारी परिवर्तन था। उस समय की सामाजिक संरचना में इस तरह का समानता का व्यवहार अकल्पनीय था, लेकिन भक्ति आंदोलन ने इसे संभव बना दिया। इन संतों के अनुयायियों ने एक समान आध्यात्मिक समाज का निर्माण किया जहाँ जाति, धर्म और सामाजिक स्थिति का कोई महत्व नहीं था। कबीर पंथ, रविदास पंथ और अन्य भक्ति संप्रदायों में सभी जातियों के लोग शामिल हो सकते थे। इन संप्रदायों में सामूहिक भोजन या लंगर की परंपरा शुरू हुई, जहाँ सभी लोग एक पंक्ति में बैठकर भोजन करते थे। यह परंपरा सिख धर्म में भी अपनाई गई और आज भी गुरुद्वारों में लंगर की परंपरा जीवित है। यह परंपरा भक्ति आंदोलन की जातिगत समानता की विचारधारा का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भक्ति आंदोलन ने यह भी स्थापित किया कि आध्यात्मिक ज्ञान और गुरु का दर्जा जन्म से नहीं, बल्कि आत्मज्ञान और भक्ति से प्राप्त होता है। रविदास को महाराज कहा जाता था, कबीर को संत कबीर के रूप में पूजा जाता है, और सेना को भगत सेना के रूप में सम्मानित किया जाता है। इन संतों को उनके शिष्यों और अनुयायियों ने गुरु का दर्जा दिया, भले ही समाज की पारंपरिक व्यवस्था में उन्हें निम्न माना जाता था। यह भक्ति आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी - इसने सामाजिक पदानुक्रम को चुनौती दी और एक नई सामाजिक व्यवस्था की नींव रखी जहाँ योग्यता और आध्यात्मिकता को महत्व दिया गया, न कि जन्म को। भक्ति आंदोलन के इस सामाजिक प्रभाव को कम करके नहीं आंका जा सकता। जब हम मध्यकालीन भारत की कठोर जाति व्यवस्था को देखते हैं, तो यह समझना आसान हो जाता है कि भक्ति संतों ने कितना साहसिक काम किया। उन्होंने न केवल सामाजिक परंपराओं को तोड़ा, बल्कि एक नया समाज बनाने का स्वप्न देखा जहाँ सभी मनुष्य समान हों। आज जब हम सामाजिक समानता और मानवाधिकारों की बात करते हैं, तो हमें यह याद रखना चाहिए कि भक्ति संतों ने सदियों पहले इन विचारों को अपने जीवन और रचनाओं में प्रस्तुत किया था।

नारियों का उत्थान: आध्यात्मिक क्षेत्र में महिलाओं का सशक्तिकरण

भक्ति आंदोलन की एक और महत्वपूर्ण विशेषता थी नारियों को आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान देना। मध्यकालीन भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उन्हें शिक्षा का अधिकार नहीं था, धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन उनके लिए वर्जित था, और मंदिरों में उनकी उपस्थिति भी सीमित थी। महिलाओं को पुरुषों के अधीन माना जाता था और उनकी भूमिका केवल पत्नी, माता और गृहिणी तक सीमित थी। धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में उनकी भागीदारी न के बराबर थी, और यह माना जाता था कि महिलाएं स्वतंत्र रूप से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं। परंतु भक्ति आंदोलन ने इस स्थिति को पूरी तरह बदल दिया। भक्ति आंदोलन ने यह स्थापित किया कि ईश्वर की भक्ति में लिंग का कोई महत्व नहीं है। महिलाएं भी उतनी ही सक्षम हैं जितने पुरुष, ईश्वर को प्राप्त करने में। मीराबाई, अक्का महादेवी, सहजो बाई, आंडाल, लाल देद, और अनेक अन्य महिला संतों ने अपने जीवन और रचनाओं के माध्यम से यह सिद्ध किया कि महिलाएं न केवल भक्ति में पुरुषों के समान हैं, बल्कि कई मामलों में उनसे आगे भी हैं।

मीराबाई भक्ति आंदोलन की सबसे प्रसिद्ध महिला संत हैं। मीरा का जन्म राजस्थान के एक राजपरिवार में हुआ था। उनका विवाह मेवाड़ के राजकुमार भोजराज से हुआ था। परंतु मीरा का हृदय तो कृष्ण भक्ति में लीन था। उन्होंने कृष्ण को अपना सच्चा पति माना और अपना पूरा जीवन उनकी भक्ति में समर्पित कर दिया। जब उनके पति की मृत्यु हो गई, तो परिवार ने उन पर सती होने का दबाव डाला, लेकिन मीरा ने इनकार कर दिया। उन्होंने कहा कि उनके असली पति तो कृष्ण हैं, जो अमर हैं। मीरा ने सामाजिक बंधनों को तोड़ा और खुलेआम कृष्ण भक्ति की। वे मंदिरों में जाती थीं, साधु-संतों के साथ सत्संग करती थीं, और सार्वजनिक रूप से भजन गाती थीं। उस समय की सामाजिक मान्यताओं के अनुसार यह सब एक उच्च कुल की महिला के लिए अस्वीकार्य था। राजपरिवार ने उन्हें रोकने की कोशिश की, यहाँ तक कि उन्हें जहर भी दिया गया, लेकिन मीरा अपनी भक्ति से विचलित नहीं हुईं। उन्होंने अपने पदों में लिखा, "संसार मुझे बावरी कहे, मेरा तो गिरिधर गोपाल।" मीरा ने समाज की परवाह किए बिना अपना जीवन कृष्ण भक्ति में बिताया और अंततः वे ईश्वर में लीन हो गईं।

मीरा की रचनाएं आज भी पूरे भारत में गाई जाती हैं। उनके पद सरल भाषा में हैं, लेकिन उनमें गहरी भक्ति और प्रेम की भावना है। मीरा ने यह सिद्ध किया कि एक महिला भी सामाजिक बंधनों को तोड़कर अपनी आध्यात्मिक यात्रा पूरी कर सकती है। उन्होंने न केवल स्वयं मुक्ति प्राप्त की, बल्कि अनेक लोगों को भक्ति का मार्ग दिखाया। मीरा आज भी एक आध्यात्मिक गुरु के रूप में पूजी जाती हैं और उनका जीवन महिला सशक्तिकरण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अक्का महादेवी दक्षिण भारत की एक और महान महिला संत थीं। वे कन्नड़ भाषा में वचन लिखती थीं और शिव की अनन्य भक्त थीं। अक्का महादेवी का जीवन भी सामाजिक बंधनों के विरुद्ध संघर्ष से भरा था। उनका विवाह बचपन में ही एक राजा से कर दिया गया था, लेकिन अक्का ने इस विवाह को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि उनके पति तो शिव हैं और उन्होंने अपना विवाह त्याग दिया।

अक्का महादेवी ने और भी क्रांतिकारी कदम उठाया। उन्होंने सभी सामाजिक बंधनों और यहाँ तक कि वस्त्रों को भी त्याग दिया। वे निर्वस्त्र होकर शिव की भक्ति में लीन हो गईं। यह उनकी इस बात की अभिव्यक्ति थी कि वे सभी सामाजिक मानदंडों और बंधनों से मुक्त हो चुकी हैं। अक्का के वचन अत्यंत सुंदर और गहन हैं। उन्होंने अपने वचनों में शिव के प्रति अपने प्रेम और भक्ति को व्यक्त किया है। अक्का महादेवी को कर्नाटक में एक महान संत के रूप में पूजा जाता है और उनके वचन आज भी कन्नड़ साहित्य की अमूल्य निधि हैं। सहजो बाई एक और महान महिला संत थीं जो चरणदास संप्रदाय से संबंधित थीं। सहजो बाई के बारे में कहा जाता है कि वे एक साधारण परिवार से थीं और उनकी शिक्षा भी सीमित थी, लेकिन उनकी आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि अद्भुत थी। सहजो बाई ने अपनी रचनाओं में निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर निराकार है और उसे पाने के लिए बाहरी आडंबरों की नहीं, बल्कि आंतरिक शुद्धता की आवश्यकता है।

सहजो बाई की रचनाएं सरल भाषा में हैं, लेकिन उनमें गहरा आध्यात्मिक ज्ञान है। उन्होंने अपने पदों में माया, मोह और सांसारिक बंधनों से मुक्ति का मार्ग दिखाया। सहजो बाई का जीवन यह दर्शाता है कि शिक्षा या सामाजिक स्थिति आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने में बाधा नहीं है। उनकी रचनाएं आज भी भक्ति साहित्य का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं और अनेक लोगों को आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती हैं।

इसके अलावा, दक्षिण भारत में आंडाल एक महान वैष्णव संत थीं जिन्होंने विष्णु की भक्ति में अपना जीवन समर्पित कर दिया। आंडाल के पद तमिल भाषा में हैं और उन्हें दक्षिण भारत में बहुत सम्मान दिया जाता है। कश्मीर में लाल देद या लल्लेश्वरी एक शैव संत थीं जिन्होंने कश्मीरी भाषा में अपने वाख लिखे। लाल देद ने भी सामाजिक बंधनों को तोड़ा और निर्भीकता से अपनी आध्यात्मिक यात्रा पूरी की। इन सभी महिला संतों ने एक समान संदेश दिया - महिलाएं पुरुषों के समान हैं और वे भी स्वतंत्र रूप से आध्यात्मिक मार्ग पर चल सकती हैं। उन्होंने यह सिद्ध किया कि मोक्ष या ईश्वर प्राप्ति के लिए पुरुष होना आवश्यक नहीं है। भक्ति आंदोलन ने महिलाओं को न केवल भक्त के रूप में स्वीकार किया, बल्कि उन्हें गुरु और आध्यात्मिक नेता के रूप में भी स्थापित किया।

इन महिला संतों के जीवन और रचनाओं ने समाज में एक नई चेतना जगाई। महिलाओं को यह अहसास हुआ कि वे भी आध्यात्मिक रूप से सक्षम हैं और उन्हें किसी पुरुष की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है ईश्वर को प्राप्त करने के लिए। इन संतों ने सामाजिक बंधनों को तोड़ा, पितृसत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती दी, और यह दिखाया कि महिलाएं अपने जीवन के निर्णय स्वयं ले सकती हैं। भक्ति आंदोलन ने महिलाओं को आवाज दी। पहली बार महिलाओं ने अपनी भावनाओं, अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों और अपनी इच्छाओं को खुलकर व्यक्त किया।

मीराबाई के पद, अक्का के वचन, सहजो बाई की रचनाएं - ये सब महिलाओं की आत्माभिव्यक्ति के साधन बने। इन रचनाओं में महिलाओं ने अपने प्रेम, अपनी पीड़ा, अपनी आकांक्षाओं और अपने आध्यात्मिक अनुभवों को साझा किया। इस प्रकार, भक्ति आंदोलन ने एक ऐसा पंथ स्थापित किया जहाँ सामाजिक भेद-भाव समाप्त थे। यह प्रेम का वह संदेश था, जिसने सामाजिक बहिष्कार को आध्यात्मिक समावेश में बदल दिया और यह सिखाया कि हर मनुष्य, उसकी जाति, लिंग या धन की परवाह किए बिना, सीधे ईश्वर से जुड़ सकता है। यह भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय था जिसने मानवीय गरिमा और सामाजिक न्याय की नींव रखी।

2. आध्यात्मिक प्रेम का चित्रण

माधुर्य भाव और विरह: आध्यात्मिक प्रेम की पराकाष्ठा

माधुर्य भाव भारतीय भक्ति परंपरा, विशेषकर वैष्णव संप्रदाय, में आध्यात्मिक प्रेम का सबसे अंतरंग और गहन रूप है। यह वह भाव है जिसमें भक्त स्वयं को प्रेयसी (या पत्नी), आत्मा, और ईश्वर को प्रियतम (या पति), परमात्मा, के रूप में स्वीकार करता है। यह लौकिक प्रेम का आरोपण है, जहाँ मानवीय प्रेम की सभी मधुरता, समर्पण और निष्ठा अलौकिक सत्ता ईश्वर की ओर निर्देशित होती है। इस भाव में, भक्त और भगवान के बीच का संबंध केवल स्वामी और सेवक का नहीं, बल्कि प्रिय और प्रिया का बन जाता है, जिससे भक्ति में एक अनुपम कोमलता और आत्मीयता आ जाती है। यह भाव अहंकार को गला देता है क्योंकि प्रेयसी का सर्वस्व समर्पण ही उसका स्वभाव होता है। मीराबाई के पद इस माधुर्य भाव के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं, जहाँ वे स्वयं को 'गिरधर नागर' की दासी, पत्नी और प्रेमिका मानती हैं। उनके प्रेम में किसी सामाजिक बंधन या लोक-लाज का भय नहीं है; यह केवल एकनिष्ठ समर्पण है।

इस माधुर्य भाव की चरम अभिव्यक्ति विरह में होती है। विरह केवल शारीरिक दूरी या वियोग नहीं है; यह आध्यात्मिक साधना का अत्यंत मार्मिक और अनिवार्य अंग है। यह परमात्मा से मिलन की तीव्र, असहनीय तड़प है। यह वह 'प्रेम की पीर' है जो भक्त को चैन नहीं लेने देती और उसे लगातार अपने लक्ष्य परमात्मा से मिलन की ओर धकेलती है। संत और सूफी कवि, दोनों ने ही इस विरह को आत्मा की शुद्धि का माध्यम माना है। उनका मानना है कि जब तक आत्मा में अहंकार और सांसारिक आसक्ति है, तब तक सच्चा मिलन संभव नहीं है। विरह की अग्नि इन सभी अशुद्धियों को जलाकर भस्म कर देती है। यह तड़प व्यक्ति को विनम्र, शुद्ध और निर्मल बनाती है, जिससे वह ईश्वर के प्रेम को धारण करने योग्य बन सके। सूफी प्रेमाख्यानों में जायसी कृत 'पद्मावत' की नायिका नागमती का बारहमासा वर्णन इस आध्यात्मिक विरह का उत्कृष्टतम उदाहरण है। नागमती का विरह-वर्णन लौकिक वियोग से शुरू होकर आत्मा के परमात्मा से बिछोह की सार्वभौमिक पीड़ा में रूपांतरित हो जाता है। उसका हर दुख, हर आँसू, परमात्मा से मिलन की तीव्र इच्छा का प्रमाण है। इस प्रकार, माधुर्य भाव और विरह एक-दूसरे के पूरक हैं; माधुर्य भाव वह प्रेम है जो विरह को जन्म देता है, और विरह

वह अग्नि है जो उस प्रेम को परम आनंद में परिवर्तित कर देती है। यह विरह ही सच्चे आध्यात्मिक आनंद का द्वार खोलता है।

साधना के चरण: आध्यात्मिक प्रेम की क्रमबद्ध यात्रा

आध्यात्मिक प्रेम (इश्क़-ए-हक़ीकी) को केवल एक भावुक कल्पना या भावनात्मक लहर मानना भूल होगी। यह एक सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और कठोर साधना का मार्ग है, जिसका चित्रण विशेष रूप से सूफी मत में विभिन्न सोपानों के रूप में किया गया है। सूफी संत इस प्रेम को 'तरीकत' (आध्यात्मिक मार्ग) के रूप में देखते हैं, जो एक साधारण मनुष्य को 'फकीर' (ईश्वर में विलीन) बना देता है। सूफी मत में इस यात्रा को चार प्रमुख चरणों या मंजिलों में विभाजित किया गया है, जो दर्शाती हैं कि परमात्मा तक पहुँचना एक क्रमिक विकास की प्रक्रिया है, न कि अचानक प्राप्त होने वाली सिद्धि। ये चार चरण हैं: शरियत, तरीकत, मारिफत और हकीकत।

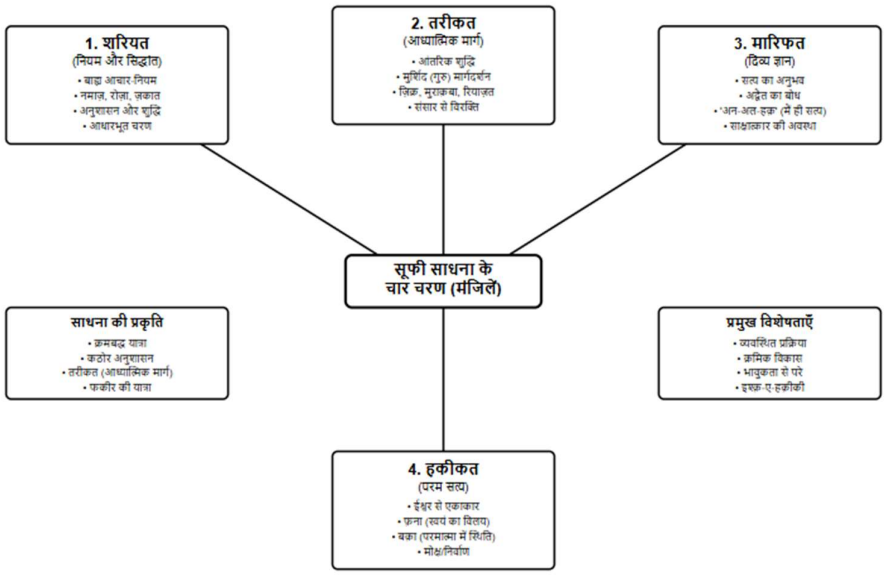

चित्र 4.4: सूफी साधना के चार चरणों

पहला चरण, 'शरियत', नियमों और सिद्धांतों का पालन है। यह इस्लाम के बाह्य आचार-नियमों, जैसे नमाज़, रोज़ा, ज़कात आदि का कड़ाई से पालन करना सिखाता है। यह साधक को अनुशासन में बाँधता है और उसकी जीवनशैली को शुद्ध व व्यवस्थित बनाता है, जो किसी भी आध्यात्मिक यात्रा के लिए आधारभूत है।

दूसरा चरण, 'तरीकत', ही वास्तविक साधना का मार्ग है। यह आंतरिक शुद्धि और गहन भक्ति का सोपान है। इसमें साधक एक मुर्शिद (गुरु) के मार्गदर्शन में ज़िक्र (ईश्वर का स्मरण), मुराक़बा (ध्यान) और रियाज़त (कठोर अभ्यास) करता है। यहाँ नियमों से अधिक भावना की पवित्रता पर ज़ोर दिया जाता है। इस स्तर पर भक्त संसार से विरक्ति अनुभव करने लगता है और उसका ध्यान पूरी तरह से ईश्वर के प्रेम पर केंद्रित हो जाता है।

तीसरा चरण, 'मारिफत', ज्ञान और बोध का चरण है। 'मारिफत' का अर्थ है दिव्य ज्ञान की प्राप्ति, जहाँ साधक को सत्य का अनुभव होने लगता है। इस स्तर पर उसे अद्वैत का बोध होता है, अर्थात वह समझने लगता है कि ईश्वर और आत्मा में कोई भेद नहीं है। यह तर्क और बुद्धि से परे साक्षात्कार की अवस्था है, जहाँ कई रहस्य (जैसे 'अन-अल-हक़' मैं ही सत्य हूँ) उजागर होते हैं।

चौथा और अंतिम चरण, 'हकीकत', परम सत्य की अवस्था है। यह ईश्वर से एकाकार होने की अवस्था है, जिसे भारतीय दर्शन में मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। 'हकीकत' में साधक स्वयं को पूर्णतः मिटा देता है (फन्ना), और केवल परमात्मा ही शेष रहता है (बका)। यह प्रेम की वह चरम परिणति है जहाँ द्वैत समाप्त हो जाता है और आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा में पूर्णतः विलीन हो जाती है। इस प्रकार, सूफी साधना के ये चरण स्पष्ट रूप से बताते हैं कि आध्यात्मिक प्रेम केवल एक भावुकता नहीं, बल्कि व्यवस्थित, क्रमबद्ध और कठोर अनुशासन की एक पूर्ण यात्रा है।

4.4.2 गीतात्मकता और शैली: प्रेमाख्यान परंपरा

भक्ति साहित्य की तात्विक गहराई को जन-जन तक पहुँचाने में उसकी शैलीगत विशिष्टता का सबसे बड़ा योगदान रहा है। भक्ति काव्य की गीतात्मकता और प्रेमाख्यान परंपरा की वर्णनात्मक शैली ने मिलकर एक ऐसा माध्यम तैयार किया, जो एक साथ हृदय को छूता था और मस्तिष्क को विचारने पर मजबूर करता था।

भक्ति काव्य की गीतात्मकता और शैली: एक विस्तृत अध्ययन

भारतीय साहित्य के इतिहास में भक्ति काव्य एक ऐसा स्वर्णिम अध्याय है जो अपनी अनूठी गीतात्मकता, सहज माधुर्य और लोकोन्मुख शैली के कारण आज भी प्रासंगिक

और जीवंत बना हुआ है। मध्यकाल में रचा गया यह काव्य केवल साहित्यिक उपलब्धि नहीं था, बल्कि यह एक सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति का माध्यम भी था। भक्ति आंदोलन के कवियों ने अपनी रचनाओं को इस प्रकार गढ़ा कि वे केवल पढ़ने के लिए नहीं, बल्कि गाए जाने, सुनाए जाने और हृदय में बसाए जाने के लिए थीं। इस काव्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसकी गीतात्मकता है, जो इसे अन्य काव्य परंपराओं से अलग और विशिष्ट बनाती है। गीतात्मकता और माधुर्य की अवधारणा को समझने के लिए हमें भक्ति काल के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में झांकना होगा। यह वह समय था जब समाज विभिन्न वर्गों, जातियों और धार्मिक कर्मकांडों में बंटा हुआ था। शास्त्रीय ज्ञान संस्कृत भाषा तक सीमित था और आम जनता उससे वंचित थी। ऐसे में भक्ति कवियों ने एक क्रांतिकारी कदम उठाया। उन्होंने अपनी रचनाओं को लोकभाषा में प्रस्तुत किया और उन्हें संगीतबद्ध रूप दिया। यह संगीतबद्धता केवल कलात्मक चमत्कार नहीं थी, बल्कि यह एक सोची-समझी रणनीति थी जिसके माध्यम से वे अपने संदेश को सबसे दूर-दराज के गांवों तक, निरक्षर लोगों तक, और समाज के हर वर्ग तक पहुंचा सकते थे।

भक्ति काव्य की गीतात्मकता का सबसे प्रमुख उदाहरण हमें कबीर दास, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, रैदास, नानक और अन्य संत कवियों की रचनाओं में मिलता है। कबीर के दोहे और साखियां आज भी लोगों की जुबान पर हैं। उनकी सहजता, सरलता और गहराई ऐसी है कि एक अनपढ़ व्यक्ति भी उन्हें समझ सकता है और याद रख सकता है। कबीर ने अपनी बात कहने के लिए दोहा छंद का प्रयोग किया, जो अपनी संक्षिप्तता और तुकांतता के कारण स्मृति में सहजता से अंकित हो जाता है। उनके दोहों में एक विशेष प्रकार की लय है, एक संगीतात्मक प्रवाह है जो सुनने वाले को मंत्रमुग्ध कर देता है। जब कबीर कहते हैं "बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय, जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय" तो यह केवल एक नैतिक उपदेश नहीं रह जाता, बल्कि एक गेय रचना बन जाती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी गाई जाती है।

सूरदास का काव्य तो मानो माधुर्य गुण की प्रतिमूर्ति ही है। उनके पदों में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का जो वर्णन है, वह केवल शब्दों का खेल नहीं है, बल्कि एक संगीतमय चित्र है जो पाठक या श्रोता के मानस पटल पर साकार हो उठता है। सूरदास ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया, जो अपनी मिठास और कोमलता के लिए प्रसिद्ध है।

उनके पदों में प्रयुक्त छंद विशेषकर पद छंद इतने सहज और स्वाभाविक हैं कि वे गाए बिना रह ही नहीं सकते। सूरदास के पदों को भारतीय शास्त्रीय संगीत में विभिन्न रागों में गाया जाता है और आज भी वे भक्ति संगीत का अभिन्न अंग हैं। उनके पदों में वात्सल्य रस की जो अभिव्यक्ति है, वह माधुर्य गुण के चरम उत्कर्ष को दर्शाती है। जब वे यशोदा के मुख से कहलाते हैं या कृष्ण की शरारतों का वर्णन करते हैं, तो उनकी भाषा में एक विशेष प्रकार की मिठास आ जाती है जो पाठक के हृदय को द्रवित कर देती है।

तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना अवधी भाषा में की, जो उस समय की लोकभाषा थी। उन्होंने चौपाई और दोहा छंद का अद्भुत प्रयोग किया। रामचरितमानस की चौपाइयां इतनी लयबद्ध और संगीतात्मक हैं कि वे स्वतः ही गाई जा सकती हैं। तुलसीदास की भाषा में एक विशेष प्रकार का प्रवाह है, एक लयात्मकता है जो पाठक को बांधे रखती है। उनकी रचना केवल काव्य नहीं है, बल्कि यह एक महाकाव्य है जो गाथागीत की परंपरा में रचा गया है। रामचरितमानस के पाठ और पारायण की परंपरा आज भी जीवंत है और इसका एक बड़ा कारण इसकी गीतात्मकता ही है। जब रामायण मंडलियां इसका पाठ करती हैं, तो वे इसे एक विशेष लय और धुन में प्रस्तुत करती हैं, जो श्रोताओं को भक्ति भाव में डुबो देती है।

मीराबाई के भजन तो भक्ति संगीत का पर्याय ही बन गए हैं। मीरा का काव्य उनके हृदय की पुकार है, उनकी आत्मा का गीत है। उन्होंने अपने प्रभु कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को इतनी तन्मयता और सहजता से व्यक्त किया है कि उनके पद आज भी भक्तों के कंठ का हार हैं। मीरा ने राजस्थानी और ब्रज भाषा के मिश्रण का प्रयोग किया और उनके पदों में एक विशेष प्रकार की तड़प, एक विरह, एक अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति है। उनके भजन "पायो जी मैंने राम रतन धन पायो" या "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" जैसे भजन आज भी घर-घर में गाए जाते हैं। मीरा के पदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे पूर्णतः गेय हैं। उनमें एक स्वाभाविक लय है, एक संगीत है जो शब्दों से परे जाकर सीधे हृदय को छू लेता है।

भक्ति काव्य की गीतात्मकता के पीछे छंद योजना का महत्वपूर्ण योगदान है। दोहा छंद, जो मात्रिक छंद है, अपनी संक्षिप्तता और तुकांतता के कारण स्मृति में सहजता से

बैठ जाता है। इसमें तेरह-ग्यारह की मात्रा क्रम होता है और अंत में तुक मिलती है, जो इसे गेय बनाती है। चौपाई छंद, जिसमें प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएं होती हैं, कथा कहने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त छंद है। इसमें एक प्रवाह है, एक निरंतरता है जो पाठक या श्रोता को बांधे रखती है। सवैया छंद, जो वीर रस और श्रृंगार रस के लिए विशेष उपयुक्त माना जाता है, में एक विशेष प्रकार की गति और लय है। लेकिन भक्ति काव्य में सबसे अधिक लोकप्रिय पद शैली रही।

पद शैली वस्तुतः संगीत और काव्य का सुंदर समन्वय है। पद को गाने के लिए रचा जाता है और इसमें स्थायी, अंतरा और संचारी जैसे संगीत के तत्व होते हैं। पद में टेक होती है, जो बार-बार दोहराई जाती है और श्रोता के मन में बस जाती है। पद की भाषा सरल होती है, उसमें क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं होता। पद में भावों की प्रधानता होती है, शब्दों का चमत्कार गौण हो जाता है। भक्ति कवियों ने पद शैली को इसलिए चुना क्योंकि वे चाहते थे कि उनकी रचनाएं लोगों के कंठ का हिस्सा बनें, उनके हृदय में बसें, और पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती रहें। और यह संभव हुआ भी। आज सैकड़ों वर्ष बाद भी भक्ति कवियों के पद गाए जाते हैं, भजनों में प्रयोग होते हैं, और आम लोगों की जुबान पर हैं।

भक्ति काव्य की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है इसकी भाषा का लोक-उन्मुख स्वरूप। भक्ति आंदोलन एक जन-आंदोलन था और इसके कवि जनता के कवि थे। वे संस्कृत की क्लिष्टता से दूर रहे और लोकभाषाओं को अपनाया। यह एक क्रांतिकारी कदम था क्योंकि उस समय तक साहित्य और धर्म दोनों संस्कृत भाषा में ही अभिव्यक्त होते थे और इसलिए वे समाज के एक छोटे वर्ग तक सीमित थे। भक्ति कवियों ने इस परंपरा को तोड़ा और अपनी रचनाओं को उस भाषा में लिखा जो आम जनता बोलती और समझती थी। कबीर ने सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया, जो विभिन्न लोक भाषाओं का मिश्रण थी। इसमें खड़ी बोली, अवधी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी आदि के शब्द मिलते हैं। कबीर का यह भाषा-प्रयोग उनकी सार्वभौमिकता को दर्शाता है। वे किसी एक क्षेत्र या भाषा तक सीमित नहीं रहना चाहते थे, बल्कि वे सभी को अपनी बात समझाना चाहते थे। उनकी भाषा में एक खुरदरापन है, एक सीधापन है जो उनके व्यक्तित्व को भी प्रतिबिंबित करता है। कबीर झाड़-फटकार कर बात कहते हैं, वे चोट करते हैं, वे सीधे

सत्य कह देते हैं। और उनकी भाषा भी वैसी ही है सीधी, सपाट, बिना किसी अलंकार के, बिना किसी चमत्कार के। लेकिन इसी सरलता में उनकी शक्ति है। सूरदास ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया, जो उस समय व्रज क्षेत्र की लोकभाषा थी। ब्रजभाषा अपनी मधुरता और कोमलता के लिए प्रसिद्ध है। इसमें एक विशेष प्रकार की मिठास है जो श्रृंगार और भक्ति रस की अभिव्यक्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। सूरदास ने ब्रजभाषा को काव्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया और उसे साहित्यिक सम्मान दिलाया। उनके बाद ब्रजभाषा रीतिकाल तक काव्य की मुख्य भाषा बनी रही। ब्रजभाषा में स्वर-सामंजस्य की विशेषता है, इसमें कर्कश ध्वनियां कम हैं और कोमल स्वर अधिक हैं। यही कारण है कि इसमें रचा गया काव्य स्वतः ही माधुर्य गुण से युक्त हो जाता है।

तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना अवधी भाषा में की, जो अवध क्षेत्र की लोकभाषा थी। अवधी भाषा में कथा कहने की एक स्वाभाविक क्षमता है। यह भाषा प्रबंध काव्य के लिए विशेष उपयुक्त है। तुलसीदास ने अवधी को अमर बना दिया। उनकी अवधी सरल है, लेकिन प्रभावशाली है। वे जटिल भावों और तात्त्विक विषयों को भी इतनी सहजता से व्यक्त करते हैं कि आम आदमी भी उन्हें समझ सके। तुलसीदास की भाषा में एक गरिमा है, एक गांभीर्य है, लेकिन वह क्लिष्ट नहीं है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है, लेकिन इतनी कुशलता से कि वे अवधी की प्रकृति में घुल-मिल गए हैं।

मीराबाई ने राजस्थानी और ब्रज का मिश्रण प्रयोग किया। राजस्थानी भाषा में एक विशेष प्रकार का ओज है, एक जोश है। मीरा के पदों में यह जोश उनकी भक्ति की तीव्रता को व्यक्त करता है। साथ ही ब्रज की मधुरता उनके प्रेम को मधुर बनाती है। मीरा की भाषा बिल्कुल सहज और स्वाभाविक है, उसमें कोई कृत्रिमता नहीं है। वे अपने हृदय की बात कहती हैं और उनकी भाषा भी हृदय से निकलती है। भक्ति कवियों द्वारा लोकभाषा का प्रयोग केवल एक साहित्यिक निर्णय नहीं था, बल्कि यह एक सामाजिक और राजनीतिक वक्तव्य भी था। उस समय तक धर्म और ज्ञान पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था और वे संस्कृत के माध्यम से इसे बनाए रखते थे। भक्ति कवियों ने लोकभाषा का प्रयोग करके इस एकाधिकार को तोड़ा। उन्होंने यह संदेश दिया कि भक्ति और ज्ञान सबके लिए हैं, इसके लिए किसी विशेष भाषा या शास्त्र की

आवश्यकता नहीं है। यह लोकतांत्रिकरण की प्रक्रिया थी, जिसने समाज में एक नई चेतना जगाई। भक्ति काव्य की तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता है इसकी प्रतीकात्मकता। भक्ति कवियों ने अपने गूढ़ आध्यात्मिक अनुभवों और तात्त्विक विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए लौकिक प्रतीकों का सहारा लिया। यह प्रतीकात्मकता उनकी रचनाओं को बहुआयामी और गहन अर्थों से भरी बनाती है। साथ ही यह काव्य को रहस्यात्मक और आकर्षक भी बनाती है। प्रतीकों के माध्यम से वे जटिल आध्यात्मिक सत्यों को सरल और समझने योग्य बनाते हैं।

कबीर की रचनाओं में प्रतीकात्मकता का व्यापक प्रयोग मिलता है। वे घट, दीपक, कुआं, समुद्र, नदी, माया, सुरति, निरति जैसे प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। उनके यहां घट शरीर का प्रतीक है, जिसमें आत्मा रूपी दीपक जल रहा है। वे कहते हैं "घट-घट में पनिहारी, सब घटन की जानी।" यहां पनिहारी आत्मा का प्रतीक है जो सभी घटों (शरीरों) में विद्यमान है। कबीर अपने प्रतीकों को रोजमर्रा के जीवन से लेते हैं जुलाहे का ताना-बाना, कुम्हार का चाक, सोने को तपाना, मछली का पानी में जीना, ये सब प्रतीक बन जाते हैं गहरे आध्यात्मिक सत्यों के। उनकी प्रतीकात्मकता इतनी सहज है कि आम आदमी भी उसे समझ सकता है, लेकिन साथ ही इतनी गहरी है कि विद्वान भी उसकी व्याख्या करते नहीं थकते। सूफी कवियों में प्रतीकात्मकता का प्रयोग और भी व्यापक और जटिल है। मलिक मुहम्मद जायसी की "पद्मावत" इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इस काव्य में पद्मिनी सांसारिक सुंदरी नहीं है, बल्कि आत्मा का प्रतीक है। रत्नसेन जीवात्म का प्रतीक है जो पद्मिनी (परमात्मा) को पाने के लिए कठिन यात्रा करता है। राघवचेतन (गुरु), हीरामन सुआ (ज्ञान), नागमती (सांसारिक प्रेम), अलाउद्दीन (माया या काम) आदि सभी प्रतीकात्मक चरित्र हैं। सिंहल द्वीप स्वर्ग या मोक्ष का प्रतीक है। यह पूरी कथा वास्तव में आत्मा की परमात्मा तक पहुंचने की आध्यात्मिक यात्रा है, जिसे प्रेम कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सूफी कवियों ने हीरा, मोती, माणिक जैसे रत्नों का प्रयोग आध्यात्मिक ज्ञान और सत्य के प्रतीक के रूप में किया। पारस पत्थर परमात्मा का प्रतीक है जो साधारण लोहे (जीवात्मा) को सोना (आत्मसाक्षात्कार) बना देता है। समुद्र और मोती के माध्यम से वे गोताखोर की कथा कहते हैं जो साधक गहरे गोता लगाता है (गहन साधना करता है), वही मोती (सत्य) पा सकता है। सतह पर तैरने वाले को केवल सीपियां ही मिलती हैं।

मीराबाई के काव्य में भी प्रतीकात्मकता का सुंदर प्रयोग है। उनके यहां कृष्ण केवल एक ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि परमात्मा के प्रतीक हैं। गिरधर गोपाल, श्याम, प्रीतम ये सब नाम परमात्मा के ही हैं। मीरा का विरह केवल सांसारिक विरह नहीं है, बल्कि आत्मा का परमात्मा से विरह है। उनका मिलन भी सांसारिक मिलन नहीं, बल्कि आध्यात्मिक मिलन है। मीरा जब कहती हैं "बरसो रे मेघा" तो यह केवल बादलों को बरसने का आह्वान नहीं है, बल्कि परमात्मा की कृपा बरसने की प्रार्थना है। मेघ यहां प्रभु कृपा का प्रतीक है। तुलसीदास के काव्य में भी प्रतीकात्मकता है, हालांकि उनकी प्रतीकात्मकता कबीर या सूफी कवियों की तरह रहस्यात्मक नहीं है। उनके यहां राम आदर्श मानव भी हैं और परमात्मा भी। लंका रावण की नगरी भी है और अहंकार का प्रतीक भी। रावण बुराई का प्रतीक है, तो राम अच्छाई के। समुद्र पार करना जीवन की कठिनाइयों को पार करने का प्रतीक है। हनुमान आदर्श भक्त के प्रतीक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस केवल राम की कथा नहीं है, बल्कि यह जीवन-दर्शन है, जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा है।

नाथ पंथ और संत परंपरा के कवियों में भी प्रतीकात्मकता का गहरा प्रयोग मिलता है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियां, षट्चक्र, सहस्रार, त्रिवेणी, गगन मंडल ये सब योग साधना से संबंधित प्रतीक हैं। अनहद नाद, सुरति-निरति का मिलन, चंद्रमा और सूर्य का मिलन ये सब आध्यात्मिक अनुभवों के प्रतीक हैं। ये प्रतीक इतने गूढ़ हैं कि साधारण पाठक इन्हें पूर्णतः नहीं समझ सकता, लेकिन साधक और योगी इनके अर्थ को पहचान लेते हैं। प्रतीकात्मकता के प्रयोग के कई कारण थे। पहला कारण था तत्कालीन राजनीतिक और धार्मिक परिस्थिति। भक्ति कवि कई बार ऐसी बातें कहते थे जो स्थापित धर्म या सत्ता के विरुद्ध जाती थीं। सीधे-सीधे ऐसी बातें कहना खतरनाक हो सकता था। इसलिए वे प्रतीकों का सहारा लेते थे। दूसरा कारण था आध्यात्मिक अनुभवों की अनिर्वचनीयता। आध्यात्मिक अनुभव ऐसे होते हैं जिन्हें शब्दों में बांधना कठिन है। प्रतीक इन अनुभवों को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनते हैं। तीसरा कारण था काव्य को रोचक और आकर्षक बनाना। प्रतीकों के प्रयोगRetryIIContinueसे काव्य में एक रहस्यात्मकता आ जाती है, एक जिज्ञासा जगती है जो पाठक या श्रोता को बार-बार उस काव्य की ओर खींचती है।

भक्ति काव्य की प्रतीकात्मकता का एक और महत्वपूर्ण पहलू है इसका बहुस्तरीय अर्थ। एक ही प्रतीक को विभिन्न स्तरों पर समझा जा सकता है। एक सामान्य पाठक उसका सतही अर्थ ग्रहण करता है और आनंद लेता है, जबकि एक साधक या विद्वान उसके गूढ़ अर्थों को समझता है। यह बहुस्तरीयता भक्ति काव्य को सार्वभौमिक बनाती है यह सबके लिए कुछ न कुछ है। एक बच्चा कृष्ण की बाल-लीलाओं का आनंद लेता है, एक गृहस्थ उसमें जीवन-मूल्यों को पाता है, और एक साधक उसमें गहरे आध्यात्मिक सत्यों को देखता है। भक्ति काव्य की शैली में एक और महत्वपूर्ण विशेषता है संवाद शैली का प्रयोग। कई भक्ति कवियों ने अपनी बात कहने के लिए संवाद शैली को अपनाया। सूरदास के पदों में यशोदा और कृष्ण के बीच संवाद हैं, गोपियों और कृष्ण के बीच संवाद हैं। ये संवाद इतने सजीव और स्वाभाविक हैं कि पात्र जैसे साकार हो उठते हैं। तुलसीदास ने भी रामचरितमानास में संवाद शैली का प्रभावी प्रयोग किया है। राम-लक्ष्मण संवाद, राम-भरत मिलाप के संवाद, राम-हनुमान संवाद. ये सब इतने मार्मिक हैं कि पाठक या श्रोता भावविभोर हो जाता है। संवाद शैली काव्य को नाटकीयता प्रदान करती है और उसे अधिक प्रभावशाली बनाती है।

भक्ति काव्य में स्वगत कथन का भी सुंदर प्रयोग मिलता है। मीराबाई के कई पद स्वगत कथन हैं, जहां वे अपने मन की बात कहती हैं, अपने प्रभु से बात करती हैं। कबीर भी कई बार अपने मन से संवाद करते हैं, स्वयं से प्रश्न करते हैं। यह शैली काव्य को अत्यंत व्यक्तिगत और हृदयस्पर्शी बनाती है। पाठक को लगता है कि कवि सीधे उससे बात कर रहा है या उसके मन की बात कह रहा है। भक्ति काव्य की एक और विशेषता है इसकी सहजता और स्वाभाविकता। भक्ति कवियों ने कृत्रिम अलंकारों का प्रयोग नहीं किया। उनका काव्य हृदय से निकला है, इसलिए वह सहज है। कबीर तो अलंकारों को 'कागा' कहते हैं जो केवल ऊपरी चमक है, भीतर कोई सार नहीं। भक्ति कवियों के यहां जो अलंकार मिलते हैं, वे स्वाभाविक रूप से आए हैं, जबरन थोपे नहीं गए हैं। उनका मुख्य ध्येय था भाव की अभिव्यक्ति, न कि काव्य-चमत्कार। और यही सहजता उनके काव्य को कालजयी बनाती है।

भक्ति काव्य में दोहरेपन का भी प्रयोग मिलता है, जो उसे दार्शनिक गहराई देता है। कबीर कहते हैं "जा मरने से जग डरे, सो मेरे आनंद" या "बिन देखे परचा नहीं, बिन परचे विश्वास नहीं, बिन विश्वास भक्ति नहीं, बिन भक्ति भगवान नहीं।"

ये विरोधाभासी कथन बौद्धिक चमत्कार नहीं हैं, बल्कि गहरे आध्यात्मिक सत्यों की अभिव्यक्ति हैं। वे साधारण तर्क से परे जाकर सोचने को विवश करते हैं। भक्ति काव्य में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी भाषा को सजीव और प्रभावशाली बनाता है। कबीर तो लोकोक्तियों के बादशाह हैं। उनके दोहे स्वयं लोकोक्तियां बन गए हैं। "दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय" या "बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर" जैसे दोहे लोक-जीवन का हिस्सा बन गए हैं। तुलसीदास ने भी लोकोक्तियों का सुंदर प्रयोग किया है। "जाके प्रिय न राम बैदेही, सो नर तजिए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही" जैसी पंक्तियां लोक-मानस में गहरे बैठ गई हैं।

भक्ति काव्य में विविध भावों की अभिव्यक्ति हुई है। वात्सल्य, माधुर्य, सख्य, दास्य, शांत, सभी प्रकार की भक्ति का सुंदर चित्रण मिलता है। सूरदास ने वात्सल्य रस को चरम पर पहुंचाया। उनके पदों में यशोदा का वात्सल्य प्रेम, उनकी चिंता, उनका मान, उनका अनुराग, सब कुछ इतनी सहजता से व्यक्त हुआ है कि हर माता अपने आप को यशोदा में देख सकती है। जब वे लिखते हैं "मैया मोरी मैं नहीं माखन खायो" तो यह केवल बाल-कृष्ण की शिकायत नहीं है, बल्कि यह हर बच्चे की मासूमियत है, हर माता-पुत्र के बीच का वह मधुर संबंध है जो सार्वभौमिक है। माधुर्य भक्ति का सबसे सुंदर उदाहरण मीराबाई के पदों में मिलता है। उनका प्रेम एक पत्नी का अपने पति के प्रति प्रेम है, लेकिन यहां पति परमात्मा है। मीरा की तड़प, उनका विरह, उनका मिलन—सब कुछ एक प्रेमिका के भावों से ओत-प्रोत है। लेकिन यह सांसारिक प्रेम नहीं है, यह आध्यात्मिक प्रेम है जो सभी सीमाओं को तोड़ देता है। मीरा कहती हैं "पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे" तो यह केवल नृत्य नहीं है, यह प्रेम की चरम अभिव्यक्ति है, यह आत्मा का परमात्मा में विलीन होने की स्थिति है।

सख्य भाव की भक्ति का उदाहरण भी मिलता है, जहां भक्त प्रभु को अपना मित्र मानता है। सूरदास के कई पदों में कृष्ण और गोपियों का, कृष्ण और गोपों का ऐसा संबंध है। तुलसीदास ने राम और सुग्रीव की मैत्री में, राम और हनुमान के संबंध में (यद्यपि हनुमान दास भाव के भक्त हैं) सख्य भाव की झलक दिखाई है। दास्य भाव की भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण तुलसीदास हैं। वे अपने आप को राम का दास मानते हैं। "दासोह मैं राम को" उनकी पहचान है।

हनुमान आदर्श दास भक्त हैं और तुलसीदास उनकी आराधना करते हैं। दास भाव में पूर्ण समर्पण है, पूर्ण विनम्रता है। यह भाव भारतीय भक्ति परंपरा का एक महत्वपूर्ण अंग है। शांत भाव की भक्ति कबीर और अन्य निर्गुण संतों में मिलती है। यहां भक्ति भावुकता नहीं है, बल्कि एक शांत, स्थिर, निर्विकार स्थिति है। यह ज्ञान से उत्पन्न भक्ति है, जहां भक्त और भगवान का भेद मिट जाता है। कबीर कहते हैं "हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हेराई, बुंद समानी समुद्र में, सो कत हेरी जाई।" यह अद्वैत का भाव है, जहां व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त हो जाता है। भक्ति काव्य में प्रकृति चित्रण भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। यद्यपि भक्ति कवियों का मुख्य विषय भगवान की भक्ति है, लेकिन उन्होंने प्रकृति को भी अपने काव्य में स्थान दिया है। सूरदास के पदों में वृंदावन का सुंदर चित्रण है, यमुना का तट, कदम्ब के वृक्ष, गोपियों की रासलीला। यह प्रकृति चित्रण स्वतंत्र नहीं है, बल्कि कृष्ण की लीलाओं की पृष्ठभूमि है। लेकिन इतना सजीव है कि पाठक वृंदावन को देख सकता है, महसूस कर सकता है।

तुलसीदास ने भी चित्रकूट, पंचवटी, और लंका का सुंदर वर्णन किया है। उनका प्रकृति चित्रण भी कथा से जुड़ा है, लेकिन उसकी अपनी सुंदरता है। विशेष रूप से बारहमासा में प्रकृति का बारह महीनों में बदलता रूप और उसका विरही नायिका की मनःस्थिति से संबंध बहुत सुंदर ढंग से चित्रित है। मीराबाई के पदों में भी प्रकृति है, घनघोर घटाएं, बिजली की चमक, मोर का नाचना। लेकिन यह प्रकृति उनके विरह को और गहरा कर देती है। बरसात का मौसम और प्रिय का न आना, यह विरह का चरम है।

भक्ति काव्य में लोक-जीवन का भी सुंदर चित्रण मिलता है। कबीर जुलाहे थे, इसलिए उनके काव्य में बुनकरों के जीवन की झलक मिलती है, ताना-बाना बुनना, चरखा चलाना। रैदास चर्मकार थे, इसलिए उनके पदों में उनके पेशे की झलक है। ये कवि आम लोग थे और उन्होंने आम जीवन को अपने काव्य में स्थान दिया। यही उनके काव्य को वास्तविक और संबंधित बनाता है। भक्ति काव्य में नारी का सम्मान भी एक महत्वपूर्ण पहलू है। मीराबाई स्वयं एक महान कवयित्री थीं और उन्होंने अपने समय की सामाजिक मान्यताओं को चुनौती दी। तुलसीदास ने सीता को आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया, लेकिन साथ ही उन्होंने सीता की अग्नि परीक्षा की घटना को भी राम की लीला के रूप में प्रस्तुत किया। सूरदास ने यशोदा और राधा को बहुत सम्मान के

साथ चित्रित किया। कबीर ने भी नारी को सम्मान दिया, यद्यपि उन्होंने माया के प्रतीक के रूप में नारी का वर्णन भी किया है। कुल मिलाकर भक्ति काव्य में नारी का चित्रण उस समय के सामाजिक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। भक्ति काव्य की गीतात्मकता और शैली का प्रभाव बहुत व्यापक और दीर्घकालीन रहा है। इस काव्य ने न केवल साहित्य को समृद्ध किया, बल्कि संगीत, कला, और सामाजिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव डाला। भक्ति काव्य के पद आज भी भारतीय संगीत का अभिन्न अंग हैं। शास्त्रीय संगीत हो या भजन-कीर्तन, सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास, कबीर के पद सर्वत्र गाए जाते हैं। विभिन्न रागों में इन पदों को गाया जाता है और हर बार एक नया भाव, एक नया अर्थ उभरता है।

भक्ति काव्य ने लोक संगीत को भी प्रभावित किया। गांवों में आज भी कबीर के दोहे गाए जाते हैं, मीरा के भजन गाए जाते हैं। ये गीत लोक परंपरा का हिस्सा बन गए हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहे हैं। भजन मंडलियां, कीर्तन मंडलियां, ये सब भक्ति काव्य की ही देन हैं। भक्ति काव्य ने हिंदी भाषा को भी समृद्ध किया। भक्ति कवियों ने विभिन्न लोक भाषाओं को साहित्यिक सम्मान दिलाया। उन्होंने सिद्ध किया कि लोकभाषाओं में भी उच्च कोटि का साहित्य रचा जा सकता है। ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, इन सभी भाषाओं को भक्ति काव्य के माध्यम से साहित्यिक प्रतिष्ठा मिली। आगे चलकर खड़ी बोली हिंदी के विकास में भी भक्ति काव्य की भूमिका महत्वपूर्ण रही। भक्ति काव्य ने समाज को भी गहराई से प्रभावित किया। इसने जाति-पाति, ऊंच-नीच के भेदभाव को चुनौती दी। कबीर, रैदास जैसे निम्न जाति के कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में समानता का संदेश दिया। उन्होंने बताया कि भक्ति में कोई जाति नहीं होती, परमात्मा सबके लिए समान है। यह संदेश क्रांतिकारी था और इसने समाज में एक नई चेतना जगाई।

भक्ति काव्य ने धार्मिक कट्टरता को भी चुनौती दी। कबीर, नानक जैसे कवियों ने हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया। उन्होंने बाहरी आडंबरों, कर्मकांडों की निरर्थकता को उजागर किया और सच्ची भक्ति को महत्व दिया। उन्होंने बताया कि मंदिर-मस्जिद में नहीं, बल्कि मन में परमात्मा बसता है। यह संदेश आज भी प्रासंगिक है। भक्ति काव्य की गीतात्मकता का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह काव्य श्रुति परंपरा का हिस्सा है। भारतीय परंपरा में ज्ञान का प्रसार मुख्यतः श्रवण के माध्यम से होता था।

गुरु अपने शिष्यों को मौखिक रूप से ज्ञान देते थे। भक्ति कवियों ने भी इसी परंपरा का अनुसरण किया। उनकी रचनाएं गाई जाती थीं, सुनी जाती थीं, और इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती थीं। गीतात्मकता ने इस प्रक्रिया को सुगम बनाया। जो गाया जा सकता है, वह याद रखा जा सकता है। और जो याद रखा जा सकता है, वह संरक्षित रहता है। भक्ति काव्य में छंद विधान का भी महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न कवियों ने विभिन्न छंदों का प्रयोग किया, लेकिन सभी ने यह ध्यान रखा कि छंद गेय हो। दोहा छंद, जो सबसे लोकप्रिय रहा, अपनी लय और तुकांतता के कारण आसानी से याद हो जाता है। इसमें तेरह और ग्यारह मात्राओं का क्रम एक विशेष लय पैदा करता है। चौपाई छंद में सोलह मात्राएं होती हैं और यह कथा कहने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। इसमें एक प्रवाह है जो श्रोता को बांधे रखता है। सवैया छंद अपेक्षाकृत जटिल है, लेकिन इसमें एक विशेष गति है जो वीर रस या श्रृंगार रस के लिए उपयुक्त है। पद छंद तो पूर्णतः संगीत के लिए ही बना है और इसमें स्थायी, अंतरा, संचारी जैसे संगीत के तत्व होते हैं।

भक्ति कवियों ने अलंकारों का प्रयोग भी किया, लेकिन संयमित रूप से। उनके यहां अलंकार स्वाभाविक रूप से आए हैं, कृत्रिम नहीं हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे अलंकार उनकी रचनाओं में मिलते हैं, लेकिन वे भाव को व्यक्त करने के लिए हैं, न कि केवल काव्य-सौंदर्य के लिए। सूरदास के यहां उपमाएं बहुत सुंदर हैं—कृष्ण के मुख की तुलना चंद्रमा से, उनकी आंखों की तुलना कमल से। ये उपमाएं परंपरागत हैं, लेकिन सूरदास ने इन्हें इतनी सहजता से प्रयोग किया है कि वे बिल्कुल स्वाभाविक लगती हैं। कबीर के यहां भी अलंकार हैं, लेकिन बहुत अलग प्रकार के। उनके अलंकार लोक-जीवन से लिए गए हैं। वे कहते हैं "कबीर खड़ा बाज़ार में, मांगे सबकी खैर" तो यह केवल एक सीधा कथन नहीं है, बल्कि इसमें गहरा व्यंग्य है। बाज़ार संसार का प्रतीक है और कबीर का खड़ा होना उनकी निर्भीकता का प्रतीक है। यह एक प्रकार का रूपक अलंकार है, लेकिन बहुत सहज।

भक्ति काव्य में रस का भी सुंदर संयोजन है। यद्यपि भक्ति रस ही प्रमुख है, लेकिन अन्य रसों का भी प्रयोग हुआ है। सूरदास के यहां वात्सल्य रस, श्रृंगार रस, शांत रस सभी मिलते हैं। तुलसीदास के यहां वीर रस, करुण रस, शांत रस का सुंदर प्रयोग है। मीरा के यहां विप्रलंभ श्रृंगार और भक्ति रस का अद्भुत समन्वय है।

कबीर के यहां वीर रस और शांत रस की प्रधानता है। ये सभी रस भक्ति रस के साथ घुल-मिल गए हैं और काव्य को समृद्ध बनाते हैं। भक्ति काव्य की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है इसकी सार्वभौमिकता। यह काव्य किसी एक वर्ग, जाति, या क्षेत्र तक सीमित नहीं है। यह सबके लिए है, सब इसे समझ सकते हैं, सब इससे जुड़ सकते हैं। एक गरीब किसान हो या धनी व्यापारी, एक अनपढ़ मजदूर हो या विद्वान पंडित, एक बच्चा हो या वृद्ध, सब इस काव्य में अपने लिए कुछ न कुछ पाते हैं। यह सार्वभौमिकता इसकी लोकोन्मुख भाषा, सहज शैली, और गीतात्मकता के कारण संभव हुई है। भक्ति काव्य में समय और स्थान की सीमाएं भी नहीं हैं। यह काव्य मध्यकाल में रचा गया, लेकिन आज भी उतना ही प्रासंगिक है। इसके संदेश आज भी सार्थक हैं, इसके भाव आज भी मर्मस्पर्शी हैं। यह काव्य उत्तर भारत में रचा गया, लेकिन आज पूरे भारत में, बल्कि विदेशों में भी, इसकी सराहना होती है। भक्ति काव्य का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हुआ है और विश्व साहित्य में इसे मान्यता मिली है।

भक्ति काव्य की गीतात्मकता और शैली का अध्ययन करते समय हमें यह समझना होगा कि यह काव्य केवल साहित्य नहीं था, बल्कि यह एक सामाजिक-धार्मिक आंदोलन का माध्यम था। भक्ति कवि केवल कवि नहीं थे, वे समाज सुधारक भी थे, धार्मिक नेता भी थे, और आम जनता के मार्गदर्शक भी थे। उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से समाज में फैली बुराइयों जाति-पाति, छुआछूत, धार्मिक कट्टरता, कर्मकांड के खिलाफ आवाज उठाई। उन्होंने सच्ची भक्ति, सच्चे प्रेम, और मानवता का संदेश दिया। और उन्होंने यह सब इतनी सुंदर, सहज, और गीतात्मक शैली में किया कि उनका संदेश लोगों के दिलों तक पहुंचा। भक्ति काव्य की गीतात्मकता में एक रहस्यात्मकता भी है। जब हम इन पदों को सुनते हैं या गाते हैं, तो एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है। शब्दों के परे कुछ है जो हमें छू जाता है, हमारे भीतर कुछ जगा देता है। यह रहस्यात्मकता भक्ति काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है। यही कारण है कि सैकड़ों वर्ष बाद भी यह काव्य जीवंत है, प्रासंगिक है, और प्रभावशाली है

प्रेमाख्यान परंपरा: परिचय, संरचना और साहित्यिक महत्व

हिंदी साहित्य के मध्यकालीन इतिहास में प्रेमाख्यान परंपरा एक अत्यंत महत्वपूर्ण और विशिष्ट काव्यधारा के रूप में उभरी, जिसने न केवल साहित्यिक दृष्टि से बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव डाला। यह परंपरा मुख्य रूप से सूफी काव्यधारा के अंतर्गत विकसित हुई, किंतु इसका प्रभाव केवल सूफी संतों और उनके शिष्यों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि समय के साथ इसने अन्य साहित्यिक धाराओं को भी प्रभावित किया और व्यापक जनसमुदाय के बीच लोकप्रिय हुई। प्रेमाख्यान काव्य परंपरा की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक के बीच एक अद्भुत सेतु का निर्माण किया। ये कथाएँ केवल प्रेम कहानियाँ नहीं थीं, बल्कि इनमें गहन दार्शनिक और आध्यात्मिक अर्थ छिपे हुए थे। प्रेमाख्यान परंपरा का उदय तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में उस समय हुआ जब भारत में इस्लामी शासन स्थापित हो चुका था और सूफी संत भारतीय धरती पर आध्यात्मिकता का प्रसार कर रहे थे। सूफी संतों ने इस्लाम के कठोर और रूढ़िवादी स्वरूप के विपरीत प्रेम, समर्पण और आध्यात्मिक एकता का मार्ग दिखाया। उन्होंने अल्लाह को पाने के लिए प्रेम को सबसे बड़ा साधन माना और इस विचारधारा को जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए स्थानीय भाषा और लोक कथाओं का सहारा लिया। इस प्रकार, प्रेमाख्यान काव्य परंपरा का जन्म हुआ, जो सूफी मत की शिक्षाओं को काव्यात्मक और कथात्मक रूप में प्रस्तुत करती थी।

प्रेमाख्यान परंपरा की कथाएँ दोहरा उद्देश्य रखती थीं। पहला उद्देश्य था लोक में प्रचलित प्रेम कहानियों का वर्णन करना, जो जनसामान्य को रुचिकर और आकर्षक लगे। ये कथाएँ राजा-रानियों, राजकुमारों-राजकुमारियों के प्रेम संबंधों पर आधारित होती थीं, जिनमें विरह, मिलन, कष्ट, बलिदान और अनंत प्रतीक्षा के प्रसंग होते थे। ये कहानियाँ मानवीय भावनाओं को इतनी सूक्ष्मता और गहराई से प्रस्तुत करती थीं कि श्रोता और पाठक उनसे तुरंत जुड़ जाते थे। दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य था उस लौकिक प्रेम को अलौकिक ईश्वर-प्रेम का रूपक या प्रतीक बनाना। सूफी कवियों ने समझा कि साधारण जनता को सीधे-सीधे दार्शनिक और आध्यात्मिक उपदेश देने

से उनका ध्यान नहीं आकर्षित होगा, इसलिए उन्होंने कथा के माध्यम से अपनी शिक्षाओं को प्रस्तुत किया। इस प्रकार, प्रेमाख्यान काव्य में कथा का बाहरी रूप भले ही किसी राजकुमार और राजकुमारी की प्रेम कहानी हो, परंतु उसका आंतरिक अर्थ मनुष्य की आत्मा और परमात्मा के बीच के संबंध को दर्शाता था।

इन काव्यों का केंद्रीय विषय लगभग एक समान होता था। कथा में एक राजकुमार या राजा होता था, जो आत्मा या साधक का प्रतीक था। वह किसी अत्यंत सुंदर और दुर्लभ राजकुमारी के प्रेम में पड़ जाता था, जो परमात्मा या मायातीत सौंदर्य का प्रतीक होती थी। राजकुमारी को प्राप्त करने का मार्ग अत्यंत कठिन और कष्टसाध्य होता था। नायक को अनेक बाधाओं, परीक्षाओं और विपत्तियों का सामना करना पड़ता था। कभी वह घने जंगलों में भटकता था, कभी समुद्र पार करता था, कभी राक्षसों और दुष्ट शक्तियों से युद्ध करता था। इन सभी बाधाओं का प्रतीकात्मक अर्थ था – आत्मा के परमात्मा तक पहुँचने के मार्ग में आने वाली माया, मोह, लोभ, क्रोध और अन्य विकार। नायक को इन सभी को पार करना होता था, और अंततः अपनी प्रिया को प्राप्त करने में वह सफल होता था, जो आत्मा के परमात्मा से मिलन का प्रतीक था।

प्रेमाख्यान परंपरा के कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं जिन्होंने इस धारा को शिखर पर पहुँचाया। इनमें सबसे पहला और महत्वपूर्ण नाम है मुल्ला दाऊद की चंदायन, जिसे १३७९ ई. में रचा गया था। यह प्रेमाख्यान परंपरा का प्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। चंदायन में लोरिक और चंदा की प्रेम कथा है, जो एक लोक कथा पर आधारित है। मुल्ला दाऊद ने इस कथा को सूफी दर्शन के अनुरूप ढाला और उसमें आध्यात्मिक अर्थ भरे। इस ग्रंथ ने आगे आने वाले सभी प्रेमाख्यान काव्यों के लिए एक प्रतिमान स्थापित किया। दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ है कुतुबन की मृगावती, जिसे १५०३ ई. में लिखा गया। मृगावती में राजकुमार राजकुंवर और राजकुमारी मृगावती की प्रेम कथा है, जिसमें नायक को अपनी प्रेमिका को पाने के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह ग्रंथ भी सूफी दर्शन से प्रेरित है और इसमें आत्मा-परमात्मा के मिलन का प्रतीकात्मक वर्णन है।

किंतु प्रेमाख्यान परंपरा का सबसे महान और प्रसिद्ध ग्रंथ है मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत, जिसे १५४० ई. में रचा गया। पद्मावत न केवल प्रेमाख्यान परंपरा का

शिखर ग्रंथ है, बल्कि संपूर्ण हिंदी साहित्य की एक अमर कृति है। इस ग्रंथ में चित्तौड़ के राजा रतनसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मिनी की प्रेम कथा है। जायसी ने इस कथा को इतनी कलात्मकता और गहराई से प्रस्तुत किया है कि यह केवल एक प्रेम कहानी न होकर जीवन, मृत्यु, धर्म, राजनीति, समाज और आध्यात्मिकता का एक समग्र दस्तावेज बन गया है। पद्मावत में जायसी ने प्रतीकों और रूपकों का बहुत ही सुंदर और प्रभावी उपयोग किया है। उन्होंने चित्तौड़ को मनुष्य के शरीर का प्रतीक माना है, राजा रतनसेन को मन या आत्मा का प्रतीक, पद्मिनी को बुद्धि या परमात्मा का प्रतीक, और राघव चेतन को शैतान या माया का प्रतीक बताया है। इस प्रकार, पूरी कथा एक आध्यात्मिक यात्रा बन जाती है, जिसमें आत्मा परमात्मा को पाने के लिए संघर्ष करती है और अंततः उसे प्राप्त करती है।

पद्मावत में कथा का विकास अत्यंत रोचक और नाटकीय है। राजा रतनसेन एक बार एक तोते से सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मिनी के अद्वितीय सौंदर्य के बारे में सुनता है। यह तोता वास्तव में ज्ञान या गुरु का प्रतीक है जो साधक को परमात्मा की ओर प्रेरित करता है। पद्मिनी के सौंदर्य की कथा सुनकर रतनसेन उसे पाने के लिए व्याकुल हो उठता है और सिंहलद्वीप की यात्रा पर निकल पड़ता है। यह यात्रा अत्यंत कठिन है – समुद्र पार करना, अनेक बाधाओं का सामना करना, और अंततः पद्मिनी के पिता द्वारा लगाई गई कठिन शर्तों को पूरा करना। ये सभी बाधाएँ साधक के मार्ग में आने वाली आध्यात्मिक चुनौतियों का प्रतीक हैं। अंततः रतनसेन पद्मिनी को प्राप्त करता है और उसे चित्तौड़ ले आता है। किंतु कथा यहीं समाप्त नहीं होती।

चित्तौड़ में एक दुष्ट ब्राह्मण राघव चेतन है, जो रतनसेन का दरबारी था लेकिन अपने दुष्कर्मों के कारण उसे राज्य से निष्कासित कर दिया गया। राघव चेतन बदला लेने के लिए दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को पद्मिनी के अद्वितीय सौंदर्य के बारे में बताता है। यहाँ राघव चेतन माया या शैतान का प्रतीक है जो साधक को परमात्मा से अलग करने का प्रयास करता है। अलाउद्दीन खिलजी पद्मिनी को पाने की लालसा में चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। यह संघर्ष वास्तव में आत्मा और माया, अच्छाई और बुराई, धर्म और अधर्म के बीच का संघर्ष है। कथा का अंत अत्यंत मार्मिक है, रतनसेन युद्ध में मारा जाता है और पद्मिनी अन्य राजपूत स्त्रियों के साथ जौहर कर लेती है।

यह अंत वास्तव में आत्मा के परमात्मा में विलीन होने का प्रतीक है जब शरीर नष्ट हो जाता है तब आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। जायसी ने पद्मावत में केवल कथा ही नहीं कही, बल्कि उसके माध्यम से जीवन के अनेक गूढ़ सत्यों को उजागर किया। उन्होंने सौंदर्य, प्रेम, विरह, समर्पण, बलिदान, धर्म, राजनीति और आध्यात्मिकता जैसे विषयों पर गहन विचार प्रस्तुत किए। उनकी काव्यशैली अत्यंत सरल और मधुर है, जिससे जनसामान्य भी उनकी रचना को समझ सकता था। उन्होंने अवधी भाषा का प्रयोग किया, जो उस समय पूर्वी उत्तर प्रदेश में बोली जाने वाली प्रमुख भाषा थी। अवधी भाषा की मधुरता और सहजता ने पद्मावत को और भी लोकप्रिय बना दिया।

प्रेमाख्यान परंपरा की एक विशेष शैली विकसित हुई, जो इन सभी ग्रंथों में देखी जा सकती है। इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी दोहा-चौपाई क्रम में एकरूपता। कथा का मुख्य भाग अवधी भाषा की चौपाई छंद में चलता है। चौपाई एक ऐसा छंद है जिसमें चार चरण होते हैं और प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। यह छंद कथा कहने के लिए अत्यंत उपयुक्त है क्योंकि इसमें एक लयबद्धता और प्रवाह होता है जो श्रोताओं को बांधे रखता है। चौपाई की सहज लय के कारण लंबी कथा भी नीरस नहीं लगती और श्रोता या पाठक रुचि बनाए रखता है।

किंतु जब कथा में कोई महत्वपूर्ण मोड़ आता है, या कवि कोई उपदेश देना चाहता है, या कथा का कोई भाग समाप्त होता है, तब दोहे का प्रयोग किया जाता है। दोहा एक ऐसा छंद है जिसमें दो पंक्तियाँ होती हैं – पहली पंक्ति में तेरह मात्राएँ और दूसरी में ग्यारह मात्राएँ। दोहा अपने संक्षिप्त रूप में गहन अर्थ समेटे रहता है। दोहे का प्रयोग कथा में विराम देने, किसी महत्वपूर्ण बात पर जोर देने, या श्रोताओं का ध्यान केंद्रित करने के लिए किया जाता है। जब चौपाई की तीव्र गति के बाद दोहा आता है, तो वह एक विश्राम की तरह होता है, जिसमें कवि कथा का सार या कोई महत्वपूर्ण संदेश देता है।

दोहा-चौपाई शैली का यह संयोजन प्रेमाख्यान परंपरा की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इस शैली ने कथा को प्रवाहमान बनाए रखा और श्रोताओं को एक ही धुन में लंबे समय तक बांधे रखा। यह ध्यान देने योग्य है कि मध्यकाल में पुस्तकें दुर्लभ थीं और अधिकांश लोग साक्षर नहीं थे। इसलिए काव्य का प्रसार मुख्यतः मौखिक परंपरा से

होता था। कवि या गायक किसी सार्वजनिक स्थान पर बैठकर काव्य का पाठ या गायन करते थे और लोग एकत्रित होकर सुनते थे। ऐसी स्थिति में छंद और लय का बहुत महत्व था। दोहा-चौपाई की लयबद्धता श्रोताओं को घंटों तक बांधे रख सकती थी और कथा को याद रखने में भी सहायक होती थी।

प्रेमाख्यान काव्यों में केवल कथा और छंद ही नहीं, बल्कि भाषा, शब्द-चयन और अलंकारों का भी विशेष महत्व था। सूफी कवियों ने अवधी भाषा को अपनाया, जो उस समय की एक सजीव और लोकप्रिय भाषा थी। अवधी में एक मिठास और सरलता है जो उसे जनसामान्य के निकट ले आती है। साथ ही, सूफी कवियों ने संस्कृत, फारसी और अरबी के शब्दों का भी प्रयोग किया, जिससे भाषा में एक समृद्धि आई। उन्होंने अलंकारों का सुंदर प्रयोग किया उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों से काव्य को सजाया। विशेष रूप से प्रकृति-चित्रण में सूफी कवियों ने अद्‌भुत कौशल दिखाया। वर्षा, वसंत, ग्रीष्म, शरद जैसे ऋतुओं का वर्णन, चाँदनी रात, सावन की झड़ी, कोयल की कूक, नदी-पर्वत का चित्रण – ये सभी प्रेमाख्यान काव्य की विशेषताएँ हैं।

प्रेमाख्यान काव्यों में नायक और नायिका के चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया गया। नायक सदैव आदर्श पुरुष होता है, वीर, साहसी, सुंदर, धर्मनिष्ठ और प्रेम के लिए सर्वस्व न्योछावर करने वाला। नायिका अत्यंत सुंदर, बुद्धिमान, गुणवान और पतिव्रता होती है। उनका प्रेम केवल शारीरिक आकर्षण नहीं होता, बल्कि आत्मिक और आध्यात्मिक होता है। विरह का वर्णन प्रेमाख्यान काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। जब नायक और नायिका अलग होते हैं, तब उनकी व्यथा, तड़प, और प्रतीक्षा का मार्मिक वर्णन किया जाता है। यह विरह वास्तव में आत्मा की परमात्मा से दूरी की व्यथा का प्रतीक है। प्रेमाख्यान परंपरा का प्रभाव केवल साहित्य तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव डाला। सूफी संतों ने अपने काव्य के माध्यम से हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया। उन्होंने हिंदू मिथकों, कथाओं और प्रतीकों का प्रयोग किया और उन्हें इस्लामी आध्यात्मिकता से जोड़ा। इससे दोनों समुदायों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ और समझ बढ़ी। प्रेमाख्यान काव्यों ने स्त्रियों के प्रति सम्मान और उनकी गरिमा को भी रेखांकित किया। पद्मिनी जैसी नायिकाएँ न केवल सुंदर हैं, बल्कि बुद्धिमान, साहसी और आत्मसम्मान की रक्षा करने वाली हैं।

प्रेमाख्यान परंपरा ने काव्य में कथा (आख्यान) और प्रेम (अध्यात्म) का अद्भुत समन्वय स्थापित किया। इस परंपरा की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसने साहित्य के उद्देश्य को केवल मनोरंजन से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक शिक्षा का माध्यम बना दिया। पाठक या श्रोता एक रोचक प्रेम कहानी सुनते हुए अनजाने ही आध्यात्मिक सत्यों से परिचित हो जाता था। कथा के माध्यम से जटिल दार्शनिक सिद्धांतों को सरल और रुचिकर बना दिया गया। यह सूफी कवियों की एक महान उपलब्धि थी कि उन्होंने शिक्षा और मनोरंजन को एक साथ प्रस्तुत किया। प्रेमाख्यान काव्यों में प्रयुक्त प्रतीकवाद अत्यंत समृद्ध और बहुस्तरीय है। हर पात्र, घटना और वस्तु का एक प्रतीकात्मक अर्थ है। उदाहरण के लिए, नायक की यात्रा केवल भौगोलिक यात्रा नहीं है, बल्कि आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा है। समुद्र संसार-सागर का प्रतीक है, जंगल माया और मोह का प्रतीक है, राक्षस और दुष्ट शक्तियाँ मनुष्य के अंदर के विकारों का प्रतीक हैं। नायिका का सौंदर्य परमात्मा के सौंदर्य और आनंद का प्रतीक है। इस प्रकार, पूरी कथा एक बहुआयामी संरचना बन जाती है, जिसे विभिन्न स्तरों पर पढ़ा और समझा जा सकता है।

प्रेमाख्यान परंपरा की एक महत्वपूर्ण विशेषता है इसका लोक जीवन से गहरा संबंध। सूफी कवियों ने लोक कथाओं को अपना आधार बनाया। चंदायन, मृगावती, पद्मावत जैसी कथाएँ लोक में पहले से प्रचलित थीं। सूफी कवियों ने इन कथाओं को अपनाया, परिमार्जित किया और उन्हें आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया। इससे एक ओर लोक परंपरा का संरक्षण हुआ और दूसरी ओर साहित्य में नया आयाम जुड़ा। लोक गीतों, लोक धुनों और लोक मुहावरों का प्रयोग इन काव्यों को जनसामान्य के और निकट ले आया। प्रेमाख्यान काव्यों में प्रकृति का स्थान भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रकृति केवल पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि कथा का एक सक्रिय अंग है। प्रकृति के विभिन्न रूप नायक-नायिका की मनःस्थिति को प्रतिबिंबित करते हैं। विरह के समय में प्रकृति भी उदास और निर्जन प्रतीत होती है, आकाश में काले बादल छाए हैं, पक्षी मौन हैं, वृक्ष पत्तों से रहित हैं। मिलन के समय में प्रकृति में उल्लास है वसंत आ गया है, फूल खिल गए हैं, कोयल कूक रही है, भ्रमर गुनगुना रहे हैं। इस प्रकार, प्रकृति और मानव मन के बीच एक गहरा तादात्म्य स्थापित किया गया है।

भक्ति साहित्य, अपने तात्विक संदेश (समानता, प्रेम) के माध्यम से एक आध्यात्मिक क्रांति लेकर आया, जिसका चित्रण विरह-प्रधान आध्यात्मिक प्रेम के रूप में हुआ। इस संदेश को लोक तक पहुँचाने के लिए गीतात्मकता (पद शैली) और प्रेमाख्यान परंपरा (दोहा-चौपाई क्रम और प्रतीकात्मक कथा) जैसी प्रभावी शैलियों का प्रयोग किया गया। यह साहित्य लोक और परलोक, प्रेम और परमार्थ, तथा कला और दर्शन का एक अनुपम संगम है।

4.5 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

4.5.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सूफी मत का उद्भव कहाँ हुआ?

क) भारत

ख) फारस और अरब

ग) चीन

घ) यूरोप

2. 'पद्मावत' के रचयिता कौन हैं?

क) कबीरदास

ख) मलिक मुहम्मद जायसी

ग) तुलसीदास

घ) सूरदास

3. सूफी कवियों की भाषा थी:

क) संस्कृत

ख) फारसी

ग) अवधी

घ) ब्रज

4. सूफी काव्य की प्रमुख विधा क्या है?

क) महाकाव्य

ख) प्रेमाख्यान

ग) रासो

घ) मुक्तक

5. सूफी मत में किसे सर्वोच्च माना गया है?

क) धन

ख) सत्ता

ग) ईश्वर प्रेम

घ) यश

6. 'मृगावती' के रचयिता कौन हैं?

क) मलिक मुहम्मद जायसी

ख) कुतुबन

ग) मंझन

घ) उस्मान

7. सूफी काव्य में किस रस की प्रधानता है?

क) वीर रस

ख) श्रृंगार रस

ग) शांत रस

घ) करुण रस

8. सूफी संतों का मुख्य उद्देश्य था:

क) राजनीतिक सत्ता

ख) आत्मा का ईश्वर से मिलन

ग) धन संग्रह

घ) युद्ध

9. 'चित्रावली' के रचयिता कौन हैं?

क) मलिक मुहम्मद जायसी

ख) उस्मान

ग) मंझन

घ) कुतुबन

10. सूफी काव्य में प्रयुक्त प्रतीक हैं:

क) युद्ध और वीरता

ख) नायक-नायिका, विरह-मिलन

ग) प्रकृति वर्णन

घ) समाज सुधार

4.5.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में सूफी मत के उदय के कारण बताइए।
2. सूफी मत के प्रमुख सिद्धांतों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

3. सूफी काव्य की भाषागत विशेषताएँ बताइए।
4. मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य का परिचय दीजिए।
5. सूफी काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों का उल्लेख कीजिए।

4.5.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में सूफी मत के उदय और विकास का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. सूफी मत के सामान्य सिद्धांतों की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. हिन्दी के प्रमुख सूफी कवियों और उनके काव्य ग्रंथों का परिचय दीजिए।
4. सूफी काव्य धारा की सामान्य विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।
5. मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' की कथा और काव्य-सौंदर्य पर विस्तृत निबंध लिखिए।

उत्तर-कुंजी:

ख) फारस और अरब

ख) मलिक मुहम्मद जायसी

ग) अवधी

ख) प्रेमाख्यान

ग) ईश्वर प्रेम

ख) कुतुबन

ख) श्रृंगार रस

ख) आत्मा का ईश्वर से मिलन

ग) मंझन

ख) नायक-नायिका, विरह-मिलन

मॉड्यूल 5
दरबारी संस्कृति और रीतिकाल

संरचना

इकाई: 5.1 रीतिकाल के मूल स्रोत

इकाई: 5.2 प्रमुख रीति कवि और काव्यधाराएँ

इकाई: 5.3 रीति काव्य की विशेषताएँ

5.0 उद्देश्य

- रीतिकाल के उद्भव को समझना
- दरबारी संस्कृति और काव्य का संबंध जानना
- राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन
- रीतिकाल के प्रमुख कवियों का परिचय
- विभिन्न काव्यधाराओं को समझना
- रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्य का अध्ययन
- रीति काव्य की सामान्य विशेषताओं को समझना
- अलंकार, रस और छंद का अध्ययन
- भाषा और शैली की विशेषताओं को जानना

इकाई 5.1: रीतिकाल के मूल स्रोत

5.1.1 दरबारी जीवन और संस्कृति

राजदरबारों का प्रभाव

भारतीय इतिहास में राजदरबारों ने केवल राजनीतिक शक्ति के केंद्र के रूप में ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक, साहित्यिक और कलात्मक विकास के प्रमुख केंद्रों के रूप में भी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मध्यकालीन भारत के राजदरबार वास्तव में एक ऐसा स्थान थे जहाँ राजनीति, कला, साहित्य, संगीत, स्थापत्य और धर्म का अद्भुत संगम देखने को मिलता था। राजदरबार न केवल शासन का केंद्र था बल्कि यह समाज की सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक भी था। दरबारी जीवन की भव्यता, विलासिता और परिष्कृत संस्कृति ने भारतीय सभ्यता के विकास में अमिट छाप छोड़ी है।

राजदरबारों की संरचना और उनका संचालन अत्यंत जटिल और सुव्यवस्थित था। दरबार में विभिन्न प्रकार के अधिकारी, सलाहकार, कलाकार, विद्वान, कवि और संगीतकार होते थे। प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित भूमिका और स्थान था। दरबार में कड़े शिष्टाचार और नियमों का पालन किया जाता था। राजा या बादशाह दरबार के केंद्र में होते थे और उनके चारों ओर विभिन्न पदानुक्रम में दरबारी बैठते थे। दरबार की भाषा, वेशभूषा, व्यवहार और रीति-रिवाज सब कुछ परंपरागत और विशिष्ट होते थे। दरबारी संस्कृति में भव्यता और वैभव का विशेष महत्व था। राजाओं और सम्राटों द्वारा आयोजित समारोह, उत्सव और दरबार अत्यंत भव्य और शानदार होते थे। इन अवसरों पर दरबार को विशेष रूप से सजाया जाता था। बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और अन्य सामग्री का प्रदर्शन किया जाता था। संगीत, नृत्य और काव्य पाठ का आयोजन होता था। ये आयोजन न केवल मनोरंजन के साधन थे बल्कि राज्य की शक्ति और समृद्धि का प्रदर्शन भी थे। इनके माध्यम से राजा अपनी प्रजा और अन्य राज्यों के प्रतिनिधियों को अपने वैभव और शक्ति का प्रभाव दिखाते थे।

राजदरबारों में कला और साहित्य को विशेष संरक्षण प्राप्त था। राजा और सम्राट स्वयं कला प्रेमी होते थे और वे कलाकारों, कवियों, संगीतकारों और विद्वानों को अपने दरबार में आश्रय देते थे। इन कलाकारों को न केवल आर्थिक सहायता मिलती थी बल्कि उन्हें अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए पर्याप्त अवसर भी मिलते थे। दरबार में नियमित रूप से काव्य गोष्ठियाँ, संगीत सभाएँ और शास्त्रार्थ आयोजित किए जाते थे। इन आयोजनों में विभिन्न विद्वानों और कलाकारों के बीच प्रतिस्पर्धा होती थी और विजेताओं को पुरस्कृत किया जाता था। दरबारी साहित्य ने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया। दरबारों में कवियों ने राजाओं की प्रशंसा में प्रशस्ति काव्य लिखे। इन काव्यों में राजाओं के शौर्य, पराक्रम, उदारता और न्यायप्रियता का वर्णन किया जाता था। हालांकि इन काव्यों में अतिशयोक्ति का प्रयोग होता था, फिर भी ये तत्कालीन इतिहास और संस्कृति के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। दरबारी कवियों ने केवल प्रशस्ति काव्य ही नहीं लिखे बल्कि महाकाव्य, खंडकाव्य, गीतिकाव्य और अन्य विधाओं में भी उत्कृष्ट रचनाएँ कीं। कालिदास, भारवि, माघ, बाणभट्ट जैसे महान कवि राजाश्रय में ही फले-फूले। दरबारों में संगीत को भी विशेष महत्व दिया जाता था। संगीतकार और गायक दरबार की शोभा माने जाते थे। विभिन्न अवसरों पर संगीत सभाओं का

आयोजन होता था। राजा स्वयं संगीत में रुचि रखते थे और कई राजा स्वयं संगीतज्ञ थे। दरबारों में शास्त्रीय संगीत का विकास हुआ। विभिन्न रागों, तालों और गायन शैलियों का विकास दरबारों में ही हुआ। तानसेन, बैजू बावरा, अमीर खुसरो जैसे महान संगीतकार दरबारी संस्कृति की ही देन हैं। दरबारों में चित्रकला भी फली-फूली। राजाओं ने चित्रकारों को संरक्षण दिया और विभिन्न शैलियों का विकास हुआ। मुगल चित्रकला, राजपूत चित्रकला, दक्खनी चित्रकला आदि दरबारी संरक्षण के फलस्वरूप ही विकसित हुईं। इन चित्रों में राजदरबार के दृश्य, युद्ध के दृश्य, धार्मिक विषय, प्रेम प्रसंग आदि का चित्रण किया जाता था। लघु चित्रकला की परंपरा दरबारों में ही विकसित हुई। स्थापत्य कला पर भी दरबारी संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा। राजाओं ने भव्य महलों, किलों, मंदिरों और अन्य भवनों का निर्माण करवाया। ये भवन न केवल सुंदर थे बल्कि स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने भी थे। इन भवनों में विभिन्न शैलियों का समन्वय देखने को मिलता है। दरबारी स्थापत्य में भव्यता, विलासिता और कलात्मकता का अद्भुत संगम था।

दरबार में विद्वानों और धार्मिक नेताओं को भी सम्मान प्राप्त था। राजा धर्म और दर्शन में रुचि रखते थे। दरबार में धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर चर्चा होती थी। विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के विद्वान दरबार में आते थे और अपने विचार प्रस्तुत करते थे। कुछ राजाओं ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई और विभिन्न धर्मों के प्रति समान आदर भाव रखा। अकबर का दीन-ए-इलाही इसका एक उदाहरण है। दरबार में शिक्षा और ज्ञान को भी प्रोत्साहन मिलता था। राजाओं ने पुस्तकालयों की स्थापना की और विद्वानों को पुस्तकें लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। विभिन्न विषयों पर ग्रंथ लिखे गए। संस्कृत, फारसी, अरबी और क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य सृजन हुआ। कुछ राजाओं ने अनुवाद कार्य को भी प्रोत्साहित किया। इससे विभिन्न संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान हुआ।

दरबारी जीवन में भोजन और पेय का भी विशेष महत्व था। दरबारों में विभिन्न प्रकार के व्यंजन तैयार किए जाते थे। भोजन की कला को विशेष परिष्कृत किया गया। विभिन्न क्षेत्रों के व्यंजन दरबार में परोसे जाते थे। मुगल दरबार में मुगलई व्यंजनों का विकास हुआ जो आज भी लोकप्रिय हैं। भोजन को कला का दर्जा दिया गया। दरबार में वेशभूषा और आभूषणों का भी विशेष महत्व था। दरबारी अत्यंत भव्य और बहुमूल्य

वस्त्र धारण करते थे। विभिन्न प्रकार के आभूषण पहने जाते थे। वस्त्र और आभूषण व्यक्ति की स्थिति और पद को दर्शाते थे। दरबार में जाने के लिए विशेष प्रकार की वेशभूषा निर्धारित थी। दरबारी संस्कृति में शिष्टाचार और मर्यादा का विशेष महत्व था। दरबार में जाने, बोलने, व्यवहार करने के निश्चित नियम थे। राजा के समक्ष कैसे बैठना है, कैसे बोलना है, कैसे अभिवादन करना है - यह सब निर्धारित था। इन नियमों का उल्लंघन अपराध माना जाता था। दरबारी शिष्टाचार की एक विशिष्ट संस्कृति विकसित हुई। दरबारों में उत्सवों और समारोहों का विशेष महत्व था। विभिन्न अवसरों पर भव्य समारोह आयोजित किए जाते थे। राज्याभिषेक, विवाह, जन्मदिन, धार्मिक त्योहार, विजय उत्सव आदि अवसरों पर विशेष समारोह होते थे। इन समारोहों में संगीत, नृत्य, खेल-कूद, दावतें आदि का आयोजन होता था। ये उत्सव कई दिनों तक चलते थे।

दरबारों में खेल-कूद को भी प्रोत्साहन मिलता था। शिकार, घुड़सवारी, तीरंदाजी, कुश्ती, पोलो आदि खेल लोकप्रिय थे। राजा स्वयं इन खेलों में भाग लेते थे। शिकार विशेष रूप से लोकप्रिय था और इसे केवल खेल ही नहीं बल्कि युद्ध कौशल का प्रशिक्षण भी माना जाता था। दरबारी संस्कृति में महिलाओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। हालांकि पर्दा प्रथा प्रचलित थी, फिर भी महिलाएँ दरबारी जीवन का हिस्सा थीं। कुछ महिलाएँ शिक्षित और कलाप्रेमी थीं। उन्होंने साहित्य, संगीत और अन्य कलाओं में योगदान दिया। कुछ महिलाओं ने राजनीति में भी भूमिका निभाई। दरबारों में भाषा और साहित्य का विकास हुआ। विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता था। संस्कृत, फारसी, उर्दू, हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य सृजन हुआ। दरबारी भाषा एक विशिष्ट शैली विकसित हुई जो परिष्कृत और अलंकृत थी। भाषा में विनम्रता और शिष्टता का विशेष ध्यान रखा जाता था। दरबारों ने व्यापार और वाणिज्य को भी प्रभावित किया। दरबार की विलासिता और भव्यता के लिए विभिन्न प्रकार के सामानों की आवश्यकता होती थी। इससे व्यापार को प्रोत्साहन मिला। बहुमूल्य रत्न, वस्त्र, सुगंध, मसाले आदि का व्यापार बढ़ा। शिल्पकारों और कारीगरों को रोजगार मिला। दरबारी संस्कृति ने समाज पर भी प्रभाव डाला। दरबार की शैली और रीति-रिवाज समाज के उच्च वर्गों में प्रचलित हुए। दरबारी भाषा, वेशभूषा और शिष्टाचार का अनुकरण किया जाने लगा। दरबारी मूल्य समाज के आदर्श बन गए। हालांकि दरबारी संस्कृति की कुछ सीमाएँ भी थीं। दरबारी जीवन की विलासिता और भव्यता के लिए बहुत धन खर्च होता था।

यह धन प्रजा से कर के रूप में वसूला जाता था। इससे कभी-कभी प्रजा पर भार बढ़ जाता था। दरबार में चापलूसी और षड्यंत्र भी होते थे। पद और सम्मान प्राप्त करने के लिए दरबारी एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचते थे। दरबारी संस्कृति में कला और साहित्य को प्रोत्साहन मिला लेकिन कभी-कभी यह प्रोत्साहन राजा की प्रशंसा तक सीमित रह जाता था। कवि और कलाकार राजा को प्रसन्न करने के लिए उनकी अतिरंजित प्रशंसा करते थे। इससे कला और साहित्य की स्वतंत्रता प्रभावित होती थी। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि राजदरबारों ने भारतीय संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दरबारी संरक्षण के बिना कई महान कलाकार, कवि और विद्वान अपनी प्रतिभा का विकास नहीं कर पाते।

दरबारी संस्कृति ने वास्तुकला पर भी गहरा प्रभाव डाला। राजमहलों, किलों और अन्य भवनों का निर्माण दरबारी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता था। दरबार के लिए विशेष हॉल, निजी कक्ष, मनोरंजन के स्थान आदि बनाए जाते थे। इन भवनों की सजावट और अलंकरण में उच्च कोटि की कलात्मकता दिखाई देती है। दरबारों में बौद्धिक गतिविधियाँ भी होती थीं। विभिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ और बहस आयोजित की जाती थी। विद्वान अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते थे। इससे बौद्धिक विकास को प्रोत्साहन मिलता था। कुछ राजा स्वयं विद्वान थे और शास्त्रार्थ में भाग लेते थे। दरबारी संस्कृति में विदेशी प्रभाव भी दिखाई देते हैं। विभिन्न देशों से आने वाले व्यापारी, राजदूत और यात्री दरबार में आते थे। उनकी संस्कृति और विचारों का प्रभाव दरबारी संस्कृति पर पड़ता था। इससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता था।

दरबारों में न्याय व्यवस्था भी संचालित होती थी। राजा स्वयं न्यायाधीश की भूमिका निभाते थे। दरबार में न्यायिक मामलों की सुनवाई होती थी। लोग अपनी शिकायतें लेकर दरबार आते थे। इससे प्रजा को न्याय मिलता था और राजा प्रजा की समस्याओं से अवगत होते थे। दरबारी जीवन में धार्मिक अनुष्ठान और रीति-रिवाज भी महत्वपूर्ण थे। विभिन्न धार्मिक अवसरों पर विशेष समारोह आयोजित किए जाते थे। धार्मिक नेता और पुजारी दरबार में सम्मानित स्थान रखते थे। राजा धार्मिक कर्तव्यों का पालन करते थे और धर्म के संरक्षक के रूप में देखे जाते थे। दरबारों में राजनयिक गतिविधियाँ भी होती थीं। अन्य राज्यों के राजदूत दरबार में आते थे। राजनयिक संधियाँ और समझौते

दरबार में ही होते थे। विदेशी दूतों का स्वागत और सत्कार विशेष धूमधाम से किया जाता था। इससे राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ती थी। दरबारी संस्कृति में सामाजिक पदानुक्रम स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। दरबार में प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित स्थान होता था। यह स्थान उसके पद, वंश और राजा के प्रति निकटता पर निर्भर करता था। उच्च पदों पर आसीन व्यक्तियों को विशेष सम्मान और सुविधाएँ प्राप्त थीं। दरबारों में सूचना और समाचार का आदान-प्रदान भी होता था। विभिन्न क्षेत्रों से आने वाले लोग दरबार में समाचार लाते थे। राजा इन समाचारों के आधार पर निर्णय लेते थे। दरबार एक प्रकार से सूचना का केंद्र था। दरबारी संस्कृति ने फैशन और जीवनशैली को भी प्रभावित किया। दरबार में प्रचलित फैशन समाज में लोकप्रिय होते थे। नई शैलियों और प्रवृत्तियों का जन्म दरबारों में ही होता था। दरबार एक प्रकार से फैशन का केंद्र था। दरबारों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी को भी कुछ हद तक प्रोत्साहन मिलता था। ज्योतिषी, चिकित्सक और अन्य विशेषज्ञ दरबार में रहते थे। कुछ राजाओं ने वेधशालाओं की स्थापना की। औषधि निर्माण और धातुकर्म जैसे क्षेत्रों में भी प्रगति हुई।

दरबारी संस्कृति का प्रभाव केवल शहरों तक सीमित नहीं था। ग्रामीण क्षेत्रों में भी दरबारी संस्कृति का प्रभाव धीरे-धीरे फैला। स्थानीय शासक और जमींदार दरबारी शैली का अनुकरण करते थे। इससे सांस्कृतिक एकता को बढ़ावा मिला। दरबारों में संगीत की विभिन्न विधाओं का विकास हुआ। ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी जैसी शैलियाँ दरबारों में ही विकसित हुईं। विभिन्न घरानों का जन्म हुआ। संगीत के सिद्धांत और व्यावहारिक पक्ष दोनों का विकास हुआ। दरबारी साहित्य में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता था। बहुभाषिकता दरबारी संस्कृति की एक विशेषता थी। इससे विभिन्न भाषाओं और साहित्यों के बीच संवाद हुआ। अनुवाद कार्य को प्रोत्साहन मिला। दरबारों में नाट्य कला भी फली-फूली। विभिन्न प्रकार के नाटकों का मंचन होता था। संस्कृत नाटकों के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषाओं के नाटक भी खेले जाते थे।

5.1.2 राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव

मुगल और राजपूत दरबार

भारतीय इतिहास में मुगल और राजपूत दरबारों का राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव अत्यंत गहरा और व्यापक रहा है। इन दोनों दरबारों की परंपराएँ, शैली और संस्कृति

भिन्न थीं, लेकिन समय के साथ इनमें आपसी आदान-प्रदान और समन्वय भी हुआ। मुगल दरबार मुख्य रूप से इस्लामी और फारसी परंपराओं से प्रभावित था जबकि राजपूत दरबार भारतीय परंपराओं और हिंदू संस्कृति पर आधारित था। इन दोनों दरबारों के राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव को समझना भारतीय इतिहास को समझने के लिए आवश्यक है।

मुगल दरबार की स्थापना बाबर ने की थी लेकिन इसका वास्तविक विकास अकबर के शासनकाल में हुआ। अकबर ने एक सुव्यवस्थित और केंद्रीकृत शासन प्रणाली विकसित की। उसने मनसबदारी व्यवस्था को लागू किया जो मुगल प्रशासन की रीढ़ थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत अधिकारियों को पद और वेतन दिया जाता था। मुगल दरबार में सभी धर्मों के लोग थे। अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई और हिंदुओं को भी उच्च पदों पर नियुक्त किया। मुगल दरबार की भव्यता और वैभव पूरे विश्व में प्रसिद्ध थी। दरबार में बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र और अन्य सामान का प्रदर्शन होता था। मुगल बादशाह मयूर सिंहासन पर बैठते थे जो अत्यंत कीमती रत्नों से जड़ा था। दरबार में सख्त शिष्टाचार के नियम थे। दरबार की भाषा फारसी थी जो प्रशासन और साहित्य की भाषा भी थी।

इकाई 5.2: प्रमुख रीति कवि और काव्यधाराएँ

5.2.1 प्रमुख रीति कवि

रीतिकाल, जिसे हिंदी साहित्य में संवत 1700 से 1900 (लगभग 1643 ईस्वी से 1843 ईस्वी) तक माना जाता है, कला और श्रृंगार का ऐसा युग था जो मुख्य रूप से आश्रयदाताओं की रुचि और काव्यशास्त्र की शास्त्रीय परंपरा के इर्द-गिर्द केंद्रित रहा, इस कालखंड का नामकरण ही उसकी प्रमुख प्रवृत्ति 'रीति' या 'काव्य रचना प्रणाली' पर आधारित है। यह वह समय था जब मुगल साम्राज्य अपने पतन की ओर था और छोटे-छोटे क्षेत्रीय राजा कला, साहित्य और सौंदर्य को संरक्षण दे रहे थे, जिसके कारण काव्य का मुख्य विषय भक्ति या ज्ञान के स्थान पर 'श्रृंगार' और 'अलंकार' बन गया। इस युग के कवि केवल भावनाओं के गायक नहीं थे, बल्कि वे स्वयं को 'आचार्य' भी सिद्ध करना चाहते थे, अतः उन्होंने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन करके, उन्हीं के आधार पर हिंदी में लक्षण ग्रंथ (काव्य के नियमों और सिद्धांतों का वर्णन करने वाले ग्रंथ) लिखे, जिससे कविता कला का एक अनिवार्य अंग बन गई। इस काल की कविता में राजाओं की प्रशंसा, नायिका भेद, रस, अलंकार, ध्वनि, और वक्रोक्ति जैसे विषयों का शास्त्रीय विवेचन प्रमुख रहा, और इसी शास्त्रीयता, दरबारी संस्कृति और श्रृंगारपरकता के आधार पर रीतिकाल की काव्यधाराओं को मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया गया रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, और रीतिमुक्त जिनका विस्तृत विवेचन रीतिकाल के समग्र स्वरूप को समझने के लिए अनिवार्य है।

5.2.2 रीतिकालीन काव्यधाराएँ: रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त

- **रीतिबद्ध काव्यधारा:** रीतिबद्ध काव्यधारा हिंदी साहित्य के इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण और विशिष्ट कालधारा है, जिसे आमतौर पर 'रीतिकाव्य' या 'रीतिकाल' कहा जाता है। इस धारा का उद्भव मध्यकालीन हिंदी कविता की शास्त्रीयता, विद्वत्ता, और राजदरबार संस्कृति के मिलन से हुआ है। इस काव्यधारा के अंतर्गत वे कवि आते हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र के स्थापित नियमों या 'रीति' को पूरी तरह से अपनाया और न केवल उन नियमों के अनुसार कविताएँ लिखी, बल्कि स्वयम् भी 'आचार्य' (काव्यशास्त्री) बनने की आकांक्षा से काव्यशास्त्र को केंद्र में रखकर 'लक्षण ग्रंथों' का सृजन किया।

संस्कृत के काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यमीमांसा आदि ग्रंथों की प्रेरणा लेकर हिंदी में रीति और उदाहरण के समन्वित रूप में नई कविता का निर्माण किया गया। रीतिबद्ध काव्यधारा के कवियों का प्राथमिक उद्देश्य अपने आश्रयदाता राजाओं को काव्यशास्त्र की शिक्षा देना तथा दरबारी विद्वता का प्रदर्शन करना था। इसी कारण उनकी रचनाओं में कलापक्ष की प्रधानता, अलंकारों की आभा, छंदों का वैविध्य, और श्रृंगार रस का एक व्यवस्थित तथा परिष्कृत रूप दिखाई देता है। भक्ति भाव की सहजता और आत्मानुभूति की गहराई की अपेक्षा उन कविताओं में भाव पक्ष की मौलिकता शास्त्रीयता की कसौटी पर अधिक निर्भर थी। वस्तुत: रीति काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति पांडित्य प्रदर्शन है; कवि अपनी विद्वत्ता और नियमों की जानकारी को प्रमुखता देते हैं और हृदय के सरल-स्वाभाविक उद्गारों की अपेक्षा नियमों के संघर्ष बोध को समाविष्ट करते हैं।

इस काव्यधारा का युग-विभाजन प्रायः 17वीं और 18वीं शताब्दी के अवधि तक माना जाता है, जिसका संवाहक केंद्र ब्रजभाषा रही है। ब्रजभाषा का उत्कृष्ट साहित्यिक रूप इन कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है, जिसमें भाषा की कोमलता, माधुर्य, और कला-पक्ष का अनुकरणीय स्वरूप विकसित हुआ। रीतिबद्ध कवि अपने काव्य का प्रमुख विषय श्रृंगार रस को मानते थे, इसलिए नायिका भेद, नायकों के विविध प्रकार, और षड् ऋतु वर्णन जैसे विषयों पर विस्तृत काव्य-प्रस्तुति होती रही है। केशवदास को रीतिबद्ध काव्यधारा का आरंभकर्ता या पितामह कहा जाता है, यद्यपि कुछ विद्वान उन्हें भक्तिकाल और रीतिकाल की संधि पर रखते हैं। केशवदास ने 'रसिकप्रिया', 'काविप्रिया', और 'वीर सिंहदेव चरित' जैसी रचनाएँ लिखीं, जिनमें काव्यशास्त्र के नियमों के साथ-साथ उदाहरणों का भी विस्तृत समावेश हुआ है। उनके बाद मतिराम, देव, पद्माकर, चिंतामणि, कुलपति मिश्र, बिहारी जैसे दिग्गज कवियों ने रीतिबद्ध कविता को विस्तार और गहराई दी। मतिराम का 'रसराज', देव का 'भुवन विजय', बिहारी का 'बिहारी सतसई' और पद्माकर का 'हजारी प्रसाद' जैसी कृतियाँ काव्यशास्त्रीय शुद्धता, अलंकार योजना और भवन की विम्बाभिव्यक्ति में अद्वितीय मानी जाती हैं।

रीतिबद्ध कवियों ने श्रृंगार रस के अंतर्गत नायिका भेद का अत्यंत विशद रूप में विकास किया। नायिकाओं को स्वाधीन, वासकसज्जा, विरहिणी, अभिसारिका आदि

विविध प्रकारों में वर्गीकृत किया गया और हर एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक तथा बाह्य व्यवहार अत्यंत कलात्मक एवं प्रवाच्य ढंग से प्रस्तुत किया गया। इसमें काव्य की कलापक्षीय समृद्धि के साथ-साथ नीति, शौर्य, और सामाजिक संबंधों की शास्त्रीय व्याख्या भी मिलती है। अलावा इसके, षड् ऋतु वर्णन के अंतर्गत वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, और शिशिर की समस्त भौतिक एवं भाव-संवेगात्मक विशेषताओं का अभूतपूर्व काव्यात्मक चित्रण मिलता है। उदाहरण के रूप में, केशवदास ने वसंत ऋतु को प्रेम का उत्सव कहा और श्रृंगार के जागरण के प्रतीक के रूप में चित्रित किया। रीतिबद्ध काव्यधारा में रस की अवधारणा भी विशेष अर्थ रखती है। यहाँ श्रृंगार रस सर्वोच्च है, किंतु अन्य रसों के भी सुगठित उदाहरण मिलते हैं। कवियों ने उदात्त भावनाओं, उत्कृष्ट अलंकारों और विलक्षण मंडानों के माध्यम से रस अभिव्यक्ति को नया आयाम दिया। अलंकारों का प्रयोग रीतिकाव्य की पहचान है, जिसमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रास आदि अलंकारों की अधिकारिक उपस्थिति होती है। छंदों के प्रयोग में भी कवि निपुण थे—दोहा, सवय्या, कवित्त, घनाक्षरी इत्यादि छंदों का उपयोग शास्त्रीयता और कलात्मकता की दृष्टि से हुआ।रीतिबद्ध कविता में भाव पक्ष की सहजता और मौलिकता कई बार शास्त्रीय नियमों के बोझ तले दब जाती है, क्योंकि कवि का उद्देश्य नियमों का पालन करना और अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करना अधिक होता है। फलस्वरूप, कविता में बौद्धिकता और जटिलता प्रबल हो जाती है, जिससे भावुकता और आत्मानुभूति का क्षेत्र संकुचित होने लगता है। फिर भी इन कवियों ने हिंदी साहित्य को एक व्यवस्थित काव्यशास्त्रीय परंपरा दी, जिसमें लक्षण ग्रंथों का निर्माण विशेष उल्लेखनीय है। लक्षण ग्रंथों में कवियों ने कविता के नियम, रस, अलंकार, छंदादि की विस्तार से चर्चा करते हुए उदाहरणों के माध्यम से उन्हें स्पष्ट किया। इससे हिंदी कविता को एक शास्त्रगत अनुशासन मिला और ब्रजभाषा को साहित्यिक भाषा का उच्चतम स्तर प्राप्त हुआ। ब्रजभाषा के परिष्कृत रूप की स्थापना में रीतिबद्ध कवियों का योगदान अमूल्य है। वे भाषा की कोमलता, प्रवाह, लाक्षारूपता, और सौंदर्य-बोध को अपने काव्य में इसी तरह मिश्रित करते हैं कि कविता भाषा के सबसे कलात्मक अधिकार क्षेत्र में पहुँच जाती है। रीतिबद्ध कविता की इन विशेषताओं के कारण ऐतिहासिक रूप से ब्रजभाषा को 'कवियों की भाषा' कहा गया। यही वजह है कि रीतिबद्ध कवियों द्वारा लिखित रचनाएँ आज भी भाषा-संवर्धन की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानी जाती हैं।

रीतिबद्ध काव्यधारा का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य भी महत्वपूर्ण है। मध्यकालीन भारत में राजदरबारों का साहित्यिक संरक्षण, दरबारी संस्कृति की परंपरा, और विद्वानों की प्रतिष्ठा इसी काव्यधारा के विकास का कारण बने। हिंदी कविता का यह दौर राजाओं की विलासिता, दरबारी मनोरंजन, और सांस्कृतिक आदान-प्रदान से भरपूर था। इन्होंने काव्यशास्त्र की विद्वत्ता और अलंकरण की ऐसी परंपरा स्थापित की, जिसमें साहित्य सौंदर्यशास्त्र का प्रमुख तत्व बनता गया। इन कवियों ने शिष्ट, संयमित, और अनुशासित काव्यधारा का विकास किया, जिससे कविता का विषय-विस्तार, कलापक्षीय समृद्धि, और शास्त्रीयता की परंपरा शिखर पर पहुँच गई। रीतिबद्ध काव्य में जिन प्रमुख कवियों का योगदान अभूतपूर्व है, उनमें केशवदास, मतिराम, देव, चिंतामणि, कुलपति मिश्र, पंडित रघुनाथ, पद्माकर आदि का नाम सर्वोपरि है। केशवदास का 'रसिकप्रिया' नायिका भेद, रस ज्ञान, और कविता के लक्षणों के उदाहरण के रूप में, मतिराम का 'रस राज' एवं 'मती मंजरी' भाव विवेचन और विद्वत्ता प्रदर्शक, देव का 'काव्यचंद्रिका' अलंकारों और छंदों की समृद्धि, पंडित चिंतामणि की रचनाएँ नीतिपरकता, कुलपति मिश्र की काव्यकृति काव्यशास्त्रीय गरिमा और पद्माकर की 'पद्माकर सतसई' श्रृंगारिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त रीतिबद्ध काव्य परंपरा में बिहारी (बिहारी सतसई), भूषण (शौर्य काव्य), और अन्य अनेक कवियों का उल्लेख किया जा सकता है।

रीतिबद्ध कवियों के काव्य की एक मुख्य विशेषता सर्वप्रथम इनमें पांडित्य और विद्वत्ता का प्रदर्शन है। कवि अपने काव्य के माध्यम से काव्यशास्त्र के नियमों का गूढ़ पारायण करते हैं और संस्कृत के लक्षण ग्रंथों का अनुकरण करते हुए हिंदी में काव्य के लिए परंपरा बनाते हैं। इसी क्रम में अलंकार योजना, छंदों का वैज्ञानिक प्रयोग, श्रृंगार रस का व्यवस्थित निरूपण, और भाषा का परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। ये कवि अपने आश्रयदाता राजाओं को काव्यशास्त्र की शिक्षा देना और शास्त्र-पारायण की विद्वत्ता दिखाना अपना कर्तव्य मानते हैं। रीतिबद्ध कविता के आलोचकों का मत है कि इस धारा ने काव्य को केवल विद्वतजनोचित बना दिया और साधारण जन की अनुभूति तथा भाव भावनाओं को गौण कर दिया। भाव पक्ष की सहजता और मौलिकता का अभाव, कविता में जटिलता, और नियमबद्धता के कारण कविता के हृदय को चोट पहुँची। तथापि, रीतिबद्ध कविता की यह विद्वत्ता और शास्त्रीयता हिंदी

साहित्य के विकास के लिए आवश्यक भी थी, क्योंकि इसने साहित्य को एक व्यवस्थित शास्त्र प्रदान किया। आज भी हिंदी साहित्य में कविता के नियमों, रस, अलंकार, छंदों आदि की चर्चा इसी परंपरा के आधार पर होती है। रीतिबद्ध काव्यधारा का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व इस बात में भी है कि यहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा का हिंदी में समन्वय हुआ और स्थानीय भाषाई चेतना को उच्च साहित्यिक रूप मिला। ब्रजभाषा के परिष्कृत रूप, छंदों के प्रयोग, अलंकारों की योजना और श्रृंगारिक भावों के विस्तृत उदाहरणों के साथ इस धारा ने आधुनिक हिंदी कविता के लिए नींव तैयार की। स्वतंत्र कविता और भाव-संचारक साहित्य के पक्षधर रीतिबद्ध कविता को बौद्धिकता और पहेलीनुमा मान सकते हैं, किन्तु उसकी समृद्धि, कला, और नियमों की आचार्य-परंपरा समस्त हिंदी साहित्य के लिए प्रेरणास्रोत हैं। रीतिबद्ध कविता में नायिका भेद, ऋतु वर्णन, रस अभिव्यक्ति, अलंकार योजना, छंदों का प्रयोग, भाषिक परिष्कार, एवं शास्त्रीयता के विविध पक्षों का समावेश ऐसे व्यापक स्तर पर हुआ कि हिंदी के आचार्य कवि आज भी उसी परंपरा का अनुकरण करने को बाध्य हैं।

वर्तमान हिंदी साहित्य में रीति परंपरा का स्थान काव्यशास्त्र के नियम निर्धारण, कविता की शास्त्रीयता, तथा भाषा के संस्कार-बोध के लिहाज़ से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसने कविता को अध्ययन की दृष्टि से वैज्ञानिक बनाया और ब्रजभाषा को सर्वोच्च साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई। केशवदास, मतिराम, देव, पद्माकर जैसे कवियों ने रीति धारा में लक्षण ग्रंथों की रचना कर हिंदी कविता की शैली, नियम, रस, अलंकार और छंद के अनुशासन को विकसित किया, जिससे अधुनातन कविता की नींव पड़ी। रीतिबद्ध काव्यधारा का निष्कर्ष यही है कि इसमें काव्यशास्त्र के नियमों को प्रधानता मिलती है, भाव पक्ष की सहजता दब जाती है, और कविता में विद्वत्ता, शास्त्रीयता, और कलात्मकता का संगम स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। रीतिबद्ध कविता ने हिंदी साहित्य के विकास में मील का पत्थर स्थापित किया और ब्रजभाषा को साहित्यिक माधुर्य की भाषा स्वरूप प्रदान किया।

रीतिबद्ध काव्यधारा के प्रमुख बिंदु निम्नलिखित हैं—

- कलापक्ष की प्रधानता: काव्य में अलंकार योजना, छंदों का प्रयोग, और शास्त्रीयता की अधिकता।

- भाव पक्ष की अल्पता: भावनाओं की सहजता और मौलिकता पर नियमों का दबाव।
- नायिका भेद और षड् ऋतु वर्णन का विस्तृत प्रस्तुतीकरण।
- विद्वत्ता प्रदर्शन, लक्षण ग्रंथों की रचना और शास्त्रीयता का उद्भव।
- ब्रजभाषा का परिष्कृत स्वरूप और कविता शैली की उच्चता।
- काव्यशास्त्र की दृष्टि से वैज्ञानिक व्यवस्था और कविता का अनुशासन।
- राजदरबारी संरक्षण और दरबारी संस्कृति का प्रभाव।

रीतिबद्ध काव्यधारा के योगदान का सबसे बड़ा पहलू यह है कि उसने हिंदी कविता को गंभीर अध्ययन का विषय बनाया; कविता को विद्वत्ता, कलापक्ष और नियम-निर्धारित अनुशासन की ओर अग्रसर किया और साहित्य को एक ऐसी धारा दी, जिसमें कला, शास्त्र, रस, छंद, भेद आदि का वैज्ञानिक समन्वय मिलता है। आज भी हिंदी साहित्य के विद्यार्थी, आलोचक और रचनाकार रीतिबद्ध काव्य परंपरा का अध्ययन और अनुकरण करते हैं, क्योंकि इसने हिंदी को एक सशक्त साहित्यिक संस्कृति, शास्त्रीयता, और भाषा का संस्कार प्रदान किया।

रीतिसिद्ध काव्यधारा: रीतिसिद्ध काव्यधारा हिंदी साहित्य के इतिहास में एक ऐसी काव्यधारा के रूप में प्रतिष्ठित है, जो रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्यधाराओं के बीच सेतु का कार्य करती है। यह धारा न तो पूरी तरह से रीति-ग्रंथों की कठोर परंपराओं में बंधी हुई है और न ही पूरी तरह उन परंपराओं से मुक्त है। इसमें रीति का ज्ञान तो है, परंतु उसका प्रयोग शास्त्रीय प्रदर्शन के रूप में नहीं, बल्कि कलात्मकता और सहजता के साथ किया गया है। इस धारा के प्रमुख कवि आचार्य बिहारी हैं, जिनकी रचना *"बिहारी सतसई"* इस काव्यधारा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मानी जाती है। रीतिसिद्ध कवियों का उद्देश्य नियमों का प्रदर्शन नहीं, बल्कि उन नियमों का काव्य में रस, भाव और सौंदर्य के रूप में विलयन करना था।

रीतिसिद्ध काव्यधारा का उद्भव उस समय हुआ जब हिंदी साहित्य में रीतिकाल का विकास हो रहा था। रीतिकाल broadly दो प्रवृत्तियों में विभाजित था रीतिबद्ध और रीतिमुक्त। रीतिबद्ध कवियों का प्रमुख उद्देश्य काव्यशास्त्र के नियमों, रस, अलंकार, ध्वनि, नायक-नायिका भेद आदि का विवेचन करना और उन्हें अपने ग्रंथों में सैद्धांतिक

रूप से प्रस्तुत करना था। दूसरी ओर, रीतिमुक्त कवि उन नियमों से स्वतंत्र होकर भावाभिव्यक्ति और अनुभव की सच्चाई पर बल देते थे। इन दोनों के बीच रीतिसिद्ध कवियों की एक विशेष श्रेणी उभरकर आई, जिन्होंने न तो केवल शास्त्रीय नियमों की व्याख्या की और न ही उन नियमों की पूर्ण उपेक्षा की। उन्होंने उन सिद्धांतों को अपनी काव्य-सृष्टि में इस प्रकार आत्मसात किया कि उनका काव्य न तो शुष्क लगा और न ही अराजक। यही संतुलन रीतिसिद्ध काव्य की पहचान बन गया। रीतिसिद्ध कवियों की दृष्टि में कविता केवल ज्ञान या प्रदर्शन का माध्यम नहीं, बल्कि हृदय की गहराइयों में उत्पन्न संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति थी। वे जानते थे कि काव्यशास्त्र के नियमों का ज्ञान कवि के लिए आवश्यक है, परंतु कविता का मूल उद्देश्य उन नियमों का अनुपालन मात्र नहीं, बल्कि भावों की सुंदर और प्रभावी अभिव्यक्ति है। इसीलिए उन्होंने शास्त्र और सौंदर्य, दोनों का अद्भुत समन्वय किया। रीतिसिद्ध कवि रीति से परिचित थे, किंतु वे रीति के दास नहीं थे; वे उसे अपने अनुभव और रचनाशक्ति के साथ जोड़कर प्रयोग करते थे।

रीतिसिद्ध काव्यधारा की प्रमुख विशेषताएँ

रीतिसिद्ध काव्य की सबसे बड़ी विशेषता इसका संतुलन है। यह न तो अत्यधिक शास्त्रीय है, न ही अत्यधिक लोकाभिमुख। इसमें शास्त्रीयता की मर्यादा भी है और लोकभावना की सहजता भी। इस धारा के कवियों ने अपने काव्य में रस, अलंकार, नायिका भेद, रीति, और काव्य की समृद्ध परंपरा का उपयोग किया, परंतु इस प्रकार कि काव्य का भावपक्ष और कलापक्ष दोनों जीवंत बने रहें। बिहारी के दोहों में यह समन्वय स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, उन्होंने श्रृंगार रस के विविध रूपों को इतने सूक्ष्म संकेतों में व्यक्त किया है कि प्रत्येक दोहा स्वयं में एक पूर्ण कविता बन जाता है। रीतिसिद्ध कवियों का सबसे बड़ा बल उनकी अभिव्यक्ति की संक्षिप्तता और गहनता में है। "गागर में सागर भरना" इस धारा की सबसे उपयुक्त उपमा है। कम शब्दों में गहरी और बहुआयामी भावनाओं को व्यक्त करना, इसी का प्रमुख लक्ष्य था। बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा है—

"नयनन्हि नींद न आवई, सेज न सुहै सिंगार।
बिन मिलननु रसना न लगे, कैसा सुहाग सिंगार॥"

यहाँ कवि ने नायिका के विरह की स्थिति को अत्यंत संक्षेप में, परंतु अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। नायिका के भाव, उसकी स्थिति, उसकी मानसिक पीड़ा, सब कुछ दो पंक्तियों में संपूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो गया है। यही रीतिसिद्ध काव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। रीतिसिद्ध कवि रस-सिद्धांत के गहरे ज्ञाता थे। उन्होंने श्रृंगार रस को अपने काव्य का प्रमुख आधार बनाया, परंतु उनके श्रृंगार में केवल दैहिक या स्थूल सौंदर्य नहीं, बल्कि भावात्मक और मानसिक गहराई भी थी। बिहारी के श्रृंगार में माधुर्य और मर्यादा का सुंदर संगम है। वे नायिका के हाव-भाव, संकेत, दृष्टि और लज्जा के सूक्ष्मतम रूपों का चित्रण करते हैं, जिससे कविता में कोमलता और सौंदर्य का अद्भुत संचार होता है।

आचार्य बिहारी और रीतिसिद्ध परंपरा

रीतिसिद्ध काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि आचार्य बिहारी हैं। उनकी *"बिहारी सतसई"* मात्र दोहे का संग्रह नहीं, बल्कि भाव, अलंकार, रस और कलात्मकता का संगम है। प्रत्येक दोहा एक स्वतंत्र काव्य इकाई है, जिसमें न तो किसी बाहरी संदर्भ की आवश्यकता होती है और न ही किसी व्याख्या की। यह दोहे स्वयं अपनी अर्थ-गर्भिता से पाठक को रसास्वादन कराते हैं। बिहारी की कविता का सबसे बड़ा गुण उसकी "संकेतात्मकता" है। वे सीधे न कहकर, संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से भाव प्रकट करते हैं। यह संकेतात्मकता कविता में रहस्य और सौंदर्य दोनों बढ़ाती है। बिहारी के दोहों में श्रृंगार रस के दोनों रूप, संयोग और वियोग समान रूप से व्यक्त हुए हैं। उन्होंने नायिका के स्नेह, लज्जा, क्रोध, मान, अनुराग, प्रतीक्षा और वियोग की अवस्थाओं को इतने कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया कि प्रत्येक दोहा एक जीवंत चित्र बन जाता है।

उनकी भाषा ब्रजभाषा है, जो उस समय की काव्यभाषा मानी जाती थी। उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य, लय और गेयता का पूर्ण लाभ उठाया। साथ ही, उनके शब्द चयन और पद विन्यास में जो संगीतात्मकता है, वह उनके काव्य को गान-योग्य बना देती है। बिहारी का दोहा केवल अर्थ से नहीं, बल्कि शब्दों के सौंदर्य और ध्वनि की मधुरता से भी रस उत्पन्न करता है। बिहारी ने शास्त्र का उपयोग केवल काव्य को नियमबद्ध करने के लिए नहीं किया, बल्कि शास्त्र को कविता में रमणीयता देने के लिए किया।

उनका काव्य न तो केवल भावप्रधान है और न ही केवल शास्त्रप्रधान, बल्कि दोनों का समुचित संतुलन है। यही संतुलन रीतिसिद्ध काव्यधारा की पहचान है।

रीतिसिद्ध काव्य में रस और अलंकार का प्रयोग

रीतिसिद्ध कवियों ने रस-सिद्धांत और अलंकारों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया। उनके लिए रस कविता का प्राण था और अलंकार उसका श्रृंगार। उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अर्थालंकार आदि का प्रयोग इस प्रकार किया कि कविता में न तो बोझिलता आई और न ही कृत्रिमता। बिहारी के दोहों में अलंकार अपने आप में सहज भाव की तरह प्रवाहित होता है।

उदाहरण के लिए, बिहारी का एक दोहा—

"सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥"

यह दोहा स्वयं उनकी काव्यशैली का दर्पण है। यहाँ उपमा और रूपक दोनों का प्रयोग हुआ है, परंतु इतने स्वाभाविक ढंग से कि वह कोई बनावटीपन नहीं दिखाता। यह रीतिसिद्ध कवियों की काव्यकला की परिपक्वता का उदाहरण है। रीतिसिद्ध काव्यधारा में ध्वनि-सिद्धांत का भी विशेष स्थान है। बिहारी के दोहों में शब्द-संयोजन और ध्वन्यात्मकता के माध्यम से भाव की तीव्रता को बढ़ाया गया है। यह उनकी अभिव्यक्ति की परिपक्वता को दर्शाता है।

भावात्मकता और सौंदर्यबोध

रीतिसिद्ध काव्यधारा में भावों की गहराई और सौंदर्यबोध का अद्भुत मेल मिलता है। इसमें केवल श्रृंगार रस की अनुभूति नहीं, बल्कि जीवन के विविध अनुभवों की कलात्मक अभिव्यक्ति भी है। बिहारी ने न केवल नायिका-नायक के भावों को चित्रित किया, बल्कि समाज, प्रकृति और मानव मन की सूक्ष्म गतियों को भी शब्दों में बाँधा। उनके दोहों में भावों की तीव्रता, संकेतों की कोमलता और सौंदर्य की व्यापकता है। बिहारी की कविता में प्रेम का जो स्वर है, वह केवल शारीरिक आकर्षण का नहीं,

बल्कि आत्मिक मिलन की कामना का है। उनके श्रृंगार में संयम और मर्यादा है, जिससे कविता का सौंदर्य और बढ़ जाता है।

रीतिसिद्ध काव्यधारा का महत्व और प्रभाव

रीतिसिद्ध काव्यधारा ने हिंदी साहित्य को एक नई दिशा दी। इसने दिखाया कि शास्त्रीयता और सहजता विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर पूरक हैं। इस धारा ने काव्य को न केवल कलात्मक ऊँचाइयों तक पहुँचाया, बल्कि उसे रस और सौंदर्य की दृष्टि से भी परिपक्व बनाया। रीतिसिद्ध काव्य का प्रभाव बाद के कवियों पर भी पड़ा। बिहारी के दोहों की शैली ने अनेक कवियों को प्रेरित किया। इस धारा ने हिंदी साहित्य में दोहा विधा को प्रतिष्ठा दी और उसे उच्च काव्य रूप के रूप में स्थापित किया।

रीतिसिद्ध काव्यधारा का मूल्यांकन

रीतिसिद्ध काव्यधारा को कभी-कभी यह कहकर आलोचना का विषय बनाया गया कि यह मुख्यतः श्रृंगार रस तक सीमित रही और सामाजिक या मानवीय सरोकारों से दूर रही। किंतु यह आलोचना आंशिक है। रीतिसिद्ध कवियों ने जिस सूक्ष्म भावबोध, कलात्मक संयम और भाषा सौंदर्य का विकास किया, वह हिंदी साहित्य की अनमोल धरोहर है। उन्होंने दिखाया कि कविता का सौंदर्य केवल विषय में नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति के ढंग में निहित होता है। रीतिसिद्ध कवियों की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि उन्होंने रीति को जीवन्त और काव्य-संवेदना से युक्त बनाया। उन्होंने दिखाया कि कविता में शास्त्रीयता और भावात्मकता का मेल संभव है, बशर्ते कवि का दृष्टिकोण सौंदर्यपरक हो।

अंततः कहा जा सकता है कि रीतिसिद्ध काव्यधारा हिंदी साहित्य के विकास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण कड़ी है। इसने रीतिबद्धता और रीतिमुक्तता के बीच एक संतुलित मार्ग प्रस्तुत किया। आचार्य बिहारी जैसे कवियों ने इस धारा को उच्च शिखर पर पहुँचाया, जहाँ काव्य में रस, अलंकार, ध्वनि, संकेत और सौंदर्य का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। रीतिसिद्ध काव्यधारा की विशेषता यह है कि यह नियमों से बँधी होने पर भी बोझिल नहीं होती, और सहजता में भी कला की परिपूर्णता बनाए रखती है। बिहारी के काव्य में जो "गागर में सागर" भरने की कला है, वही इस धारा की आत्मा

है। उन्होंने दिखाया कि सच्चा कवि वह है, जो शास्त्र को साधन बनाकर सौंदर्य को साध्य बना सके। रीतिसिद्ध काव्यधारा का यही संदेश आज भी प्रासंगिक है—कविता तब ही पूर्ण होती है, जब उसमें ज्ञान, कला और भाव, तीनों का संतुलन हो। इस दृष्टि से रीतिसिद्ध काव्यधारा हिंदी साहित्य के इतिहास में एक ऐसा उज्ज्वल अध्याय है, जिसने काव्य को कलात्मकता और रसिकता की चरम सीमा तक पहुँचाया।

रीतिमुक्त काव्यधारा: रीतिमुक्त काव्यधारा: स्वच्छंद प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति

रीतिकाल (लगभग 1643 ई. से 1843 ई.) हिंदी साहित्य के इतिहास का एक ऐसा कालखंड है, जो अपने दरबारी परिवेश, श्रृंगारिकता की प्रधानता और शास्त्रीय नियमों के कठोर पालन के लिए जाना जाता है। इस काल की मुख्य प्रवृत्ति 'रीति' यानी काव्यशास्त्रीय परंपराओं का निर्वाह करना था, जिसका अनुसरण करने वाले कवि रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कहलाए। किंतु, इसी कालखंड में एक ऐसी स्वच्छंद और विद्रोही धारा भी प्रवाहित हुई, जिसने दरबारी बंधनों, शास्त्रीय कृत्रिमता और परंपरा के बोझ को नकार दिया। यह धारा 'रीतिमुक्त काव्यधारा' कहलाई, जो रीतिकाल की सबसे अलग, मार्मिक और महत्वपूर्ण पहचान बनी। रीतिमुक्त काव्यधारा का प्रतिनिधित्व मुख्य रूप से घनानंद, आलम, बोधा और ठाकुर जैसे अद्वितीय कवि करते हैं। यह धारा न केवल रीतिकाल के बंधे-बंधाए माहौल में ताज़ी हवा का झोंका थी, बल्कि इसने हिंदी साहित्य में व्यक्तिगत प्रेम की अभिव्यक्ति को एक नई ऊँचाई प्रदान की, जो भक्ति काव्य की गहनता और सूफी काव्य की वेदना के समीप ठहरती है।

रीतिमुक्त काव्यधारा का स्वरूप और नामकरण

जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, 'रीतिमुक्त' का अर्थ है रीति (काव्यशास्त्र के नियम) से मुक्त। इन कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र या हिंदी की 'रीति' परंपरा (जैसे - रस, अलंकार, नायिका-भेद आदि के लक्षण ग्रंथों की रचना) का बंधन स्वीकार नहीं किया। उनका उद्देश्य किसी राजा या आश्रयदाता को प्रसन्न करना या किसी शास्त्रीय नियम का प्रदर्शन करना नहीं था, बल्कि हृदय की स्वच्छंद, निजी और तीव्र अनुभूतियों को बिना किसी आवरण के अभिव्यक्त करना था।

रीतिमुक्त काव्य की मुख्य विशेषताएँ

रीतिमुक्त कवियों ने दरबारी संस्कृति और रीति की कृत्रिमता से विद्रोह करते हुए अपनी कविता को सच्चे और अनूठे प्रेम के धरातल पर स्थापित किया। इनकी कविता की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. निजी और स्वच्छंद प्रेम की अभिव्यक्ति

रीतिमुक्त काव्य की सबसे बड़ी विशेषता इसका व्यक्तिगत, निजी और निश्छल प्रेम है। घनानंद का प्रेम सुजान से, आलम का प्रेम शेख रंगरेजिन से, और बोधा का प्रेम सुभान से जुड़ा हुआ था। यह प्रेम किसी नायक-नायिका के सामान्य वर्णन या शास्त्रीय ढाँचे तक सीमित नहीं था। यह प्रेम उनके वास्तविक जीवन की घटना, विरह और पीड़ा से उपजा था। इसलिए, इसमें दरबारी श्रृंगार की स्थूलता, कामुकता या भोग-विलास का चित्रण नहीं मिलता। यह प्रेम आध्यात्मिक ऊँचाईयों को छूता है।

2. विरह की मार्मिक और गहन अनुभूति ('पीर')

रीतिमुक्त काव्य का मूल स्वर वियोग श्रृंगार है, और इस वियोग में भी 'पीर' (गहरी पीड़ा) की प्रधानता है। घनानंद के काव्य को तो 'पीर का कवि' कहा जाता है। उनका विरह वर्णन मात्र विलाप नहीं है, बल्कि यह प्रेम की कसौटी है। जहाँ रीतिबद्ध कवि विरह को एक साहित्यिक विषय मानकर उसका शास्त्रीय वर्णन करते हैं, वहीं रीतिमुक्त कवि इसे आत्मा की सच्ची वेदना के रूप में जीते हैं।

घनानंद के विरह में वियोग की तीन अवस्थाएँ मिलती हैं: प्रेम की निराशा, वेदना का तीव्र अनुभव, और पीड़ा में भी आनंद की अनुभूति (सूफी दर्शन का प्रभाव)।

3. प्रेम की अलौकिकता और आत्मिक समर्पण

यद्यपि रीतिमुक्त कवियों का प्रेम एक मानव पात्र (सुजान, शेख, सुभान) से जुड़ा था, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति में भक्ति और सूफी काव्य की झलक मिलती है। घनानंद सुजान को संबोधित करते हुए जिस निष्ठा, एकतरफा समर्पण और अनन्यता का भाव प्रकट करते हैं, वह लौकिक प्रेम की सीमा को पार करके अलौकिक बन जाता है।

यहाँ प्रेमी (आत्मा) और प्रियतम (परमात्मा) का द्वैत मिट जाता है। यह प्रेम 'नेह' (निर्मल प्रेम) की गहराई से युक्त है।

4. सहजता और ईमानदारी ('प्रेम की सहजता')

इन कवियों ने प्रेम के मार्ग को 'अति सूधो' (अत्यंत सीधा और सरल) कहा है, जहाँ चतुराई, छल या टेढ़ेपन का कोई स्थान नहीं है। उनकी अभिव्यक्ति में सीधी-सच्ची बात कहने की हिम्मत है। वे अपने मनोभावों को छिपाते नहीं हैं, बल्कि पूरी ईमानदारी से व्यक्त करते हैं। यह सहजता दरबारी कविता की चाटुकारिता और कृत्रिमता से एकदम विपरीत है।

5. वक्रता और मुहावरेदार भाषा

रीतिमुक्त कविता की भाषा, यद्यपि ब्रजभाषा ही है, पर यह रीतिबद्ध कवियों की संस्कृतनिष्ठ या पांडित्यपूर्ण भाषा से भिन्न है। इनकी भाषा सरल, सहज और मुहावरेदार है, लेकिन भावनाओं की तीव्रता के कारण इसमें एक विशेष प्रकार का 'वक्रता' (टेढ़ापन) पाया जाता है। वे सीधे-सीधे न कहकर, अपनी बात को घुमाकर और लाक्षणिकता का सहारा लेकर कहते हैं, जिससे उनकी अभिव्यक्ति में मार्मिकता और गहराई आ जाती है। लोकोक्ति और मुहावरों के प्रयोग से इनकी भाषा में अद्भुत माधुर्य और शक्ति आ गई है।

घनानंद ने लाक्षणिक प्रयोगों की एक नई परंपरा ही स्थापित कर दी, जैसे: "अँसुवनि झरि लागी रहै", "लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत"।

6. छंद और अलंकारों का सहज प्रयोग

रीतिमुक्त कवियों ने छंदों और अलंकारों का प्रयोग शास्त्रीय प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि भावों के उत्कर्ष के लिए किया। उन्होंने सवैया और घनाक्षरी जैसे छंदों का प्रयोग बहुतायत से किया, जो उनके तीव्र मनोभावों को व्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम थे। उनके अलंकार अनायास ही आ गए हैं, वे थोपे हुए नहीं लगते।

प्रमुख रीतिमुक्त कवि और उनका योगदान

रीतिमुक्त काव्यधारा चार प्रमुख स्तंभों पर टिकी है, जिनमें प्रत्येक का अपना अद्वितीय योगदान है:

1. घनानंद (इस धारा के सर्वप्रमुख कवि)

घनानंद (1673-1760 ई.) रीतिमुक्त काव्यधारा के शिरोमणि हैं। वे प्रेम की पीर (पीड़ा) के कवि के रूप में विख्यात हैं। दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले के मीर-मुंशी रहे घनानंद को नर्तकी सुजान से गहरा प्रेम था, लेकिन सुजान की बेवफाई के कारण उन्हें दरबार छोड़कर वृंदावन जाना पड़ा। इस घटना ने उनके लौकिक प्रेम को विरह की आग में तपाकर अलौकिक बना दिया।

- **योगदान:** उनके काव्य में वियोग श्रृंगार की ऐसी मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है जो हिंदी साहित्य में अद्वितीय है। उनकी लाक्षणिक भाषा और विरह की अनूठी कसक उन्हें अमर बनाती है। उन्होंने प्रेम को 'अति सूधो मार्ग' कहकर उसकी सच्चाई और निश्छलता पर बल दिया। उनके प्रमुख ग्रंथ हैं: *सुजान हित, वियोग वेलि, इश्क लता, कृपाकंद निबंध।*

2. आलम

आलम (17वीं शताब्दी के उत्तरार्ध) एक ब्राह्मण कवि थे, जिन्होंने एक रंगरेजिन शेख से विवाह किया और इस्लाम स्वीकार कर लिया। उनका काव्य उनकी स्वच्छंद प्रवृत्ति और प्रेम की मस्ती को दर्शाता है।

- **योगदान:** आलम के काव्य में प्रेम की मादकता और चंचलता दिखाई देती है। उनके प्रेम में घनानंद जैसी गहन विरह-पीड़ा नहीं, बल्कि हर्षोल्लास और मस्ती का भाव है। उनके छंदों में प्राकृतिक सौंदर्य और विरह की सहज अभिव्यक्ति मिलती है। उनकी कृति है: *आलम केली।*

3. बोधा

बोधा (बुद्धिसेन) पन्ना दरबार के दरबारी थे, जिन्हें अपनी प्रेमिका सुभान के कारण दरबार से बाहर कर दिया गया। उनका काव्य प्रेम में आत्म-समर्पण और साहस का प्रतीक है।

- **योगदान:** बोधा के काव्य में प्रेम के लिए सर्वस्व त्यागने की भावना है। उनकी रचनाओं में प्रेम की उन्मुक्तता, साहस और विरह की आग का चित्रण है। उनका प्रसिद्ध कथन है: "प्रेम को पंथ कराल महा, तरवार की धार पै धावनो है।" यह उनके प्रेम की कठिनाई और दृढ़ता को दर्शाता है। उनके ग्रंथ हैं: *विरह-वारीश, इश्कनामा।*

4. ठाकुर

ठाकुर (18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध) बुंदेलखंड के रहने वाले थे और उन्हें स्पष्टवादिता के लिए जाना जाता है। उनका काव्य रीति की रूढ़ियों पर सीधा प्रहार करता है।

- **योगदान:** ठाकुर की कविता में दरबारी आडंबरों के प्रति तीव्र आक्रोश और प्रेम की सच्ची पहचान है। वे कहते हैं: "सीखें कौन सों नैंक सुचातुरी, कान परे अब गाँव के गौन।" (चालाकी किससे सीखें, अब तो गाँव की बातें ही कान में पड़ती हैं)। उनका काव्य सच्चे मन से प्रेम करने पर जोर देता है, न कि दिखावे पर।

रीतिमुक्त काव्यधारा का महत्व और प्रभाव

रीतिमुक्त काव्यधारा रीतिकाल के समग्र परिवेश में एक असाधारण विद्रोही स्वर है। इसका महत्व निम्नलिखित कारणों से है:

- **हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल को प्रायः** श्रृंगारिकता, नायिका-भेद, अलंकार-प्रयोग और दरबारी सौंदर्य के युग के रूप में जाना जाता है। किंतु इसी काल में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने इस बाह्य चमक-दमक के भीतर मानवीय संवेदनाओं, आत्म-अभिव्यक्ति, और स्वच्छंद भावों को अभिव्यक्त कर एक नई काव्यधारा की नींव रखी। इन कवियों ने हिंदी काव्य में

स्वच्छंदतावाद की शुरुआत की, जिसने आगे चलकर छायावाद जैसे आधुनिक साहित्यिक आंदोलनों को जन्म दिया। यह काव्यधारा केवल परंपराओं का विरोध नहीं थी, बल्कि यह मानवीय भावनाओं के गहरे अनुभवों की स्वीकृति और उत्सव थी।

1. स्वच्छंदतावाद की नींव

रीतिकाल के अंतिम दौर में जब दरबारी कवि अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में रचे हुए पदों के माध्यम से कृत्रिम सौंदर्य और भौतिक प्रेम का प्रदर्शन कर रहे थे, उसी समय कुछ कवियों ने काव्य को आत्म-अनुभूति का माध्यम बनाया। उन्होंने शास्त्रीय बंधनों, अलंकारिक जटिलताओं और दरबारी सीमाओं से ऊपर उठकर अपनी अनुभूतियों को स्वतंत्रता के साथ अभिव्यक्त किया। यही प्रवृत्ति आगे चलकर हिंदी साहित्य में स्वच्छंदतावाद की नींव बनी।

स्वच्छंदतावाद का मूल आधार "व्यक्ति की स्वतंत्रता" है सोच में, अनुभव में और अभिव्यक्ति में। रीतिकाल के कवियों में विशेषकर घनानंद**,** नंददास**,** और कृष्णभक्त कवियों ने इस प्रवृत्ति को प्रारंभ किया। घनानंद की कविता में प्रेम केवल इंद्रिय-सुख तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसमें आत्मा की तड़प, वियोग की पीड़ा और प्रेम की गहराई का स्वाभाविक चित्रण मिलता है। उन्होंने शास्त्रीय परंपराओं से हटकर अपनी भावनाओं को सीधा, ईमानदार और आत्मिक रूप में व्यक्त किया। यह वही समय था जब साहित्य में "व्यक्ति" का उदय हो रहा था कवि अब केवल नायिका या देवता का गुणगान करने वाला नहीं रहा, बल्कि अपनी आत्मा की आवाज को भी सुनने लगा। यह परिवर्तन स्वच्छंदतावाद की पहली झलक थी, जिसने आगे चलकर छायावाद की पृष्ठभूमि तैयार की। इस प्रकार रीतिकाल के उत्तरार्ध में स्वच्छंदता की जो लहर उठी, उसने हिंदी कविता को नई संवेदना और स्वतंत्र सोच का मार्ग दिखाया।

2. प्रेम की उदात्तता

रीतिकाल की कविता में प्रेम का विषय प्रमुख रहा है, किंतु उसमें अधिकतर कवियों ने प्रेम को भौतिक और लौकिक रूप में प्रस्तुत किया। श्रृंगार रस प्रधान कविताएँ नायिका-भेद, अंग-प्रशंसा और अलंकारिक सौंदर्य पर आधारित थीं।

परंतु स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के कवियों ने प्रेम की इस स्थूलता से आगे बढ़कर उसे आत्मिक और पवित्र रूप में अनुभव किया।

घनानंद, जो इस दिशा के सर्वाधिक प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं, उनके काव्य में प्रेम एक आध्यात्मिक अनुभव के रूप में प्रस्तुत होता है। वे प्रेम को केवल नारी-पुरुष के आकर्षण तक सीमित नहीं रखते, बल्कि उसे आत्मा की गहराई में बसे हुए भाव के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। उनके प्रेम में तड़प है, वियोग है, समर्पण है और आत्म-निवेदन की अद्भुत शक्ति है। यह प्रेम किसी वस्तु या व्यक्ति की प्राप्ति का साधन नहीं, बल्कि आत्मा की शुद्धि और विस्तार का माध्यम है। यह दृष्टि हिंदी साहित्य में भक्ति आंदोलन की परंपरा से भी जुड़ती है, जहाँ प्रेम को ईश्वर प्राप्ति का साधन माना गया। सूफी कवियों की तरह घनानंद के यहाँ भी प्रेम 'इश्क़-हक़ीकी' की ओर झुकता है, जहाँ प्रेम स्वयं में एक आराधना बन जाता है। इस प्रकार रीतिकाल के कवियों ने प्रेम को केवल शरीर की सीमाओं तक नहीं रहने दिया, बल्कि उसे आत्मा के ऊँचे आयाम तक पहुँचाया। यही कारण है कि स्वच्छंदतावाद की यह धारा प्रेम को उसकी उदात्तता और गरिमा के साथ प्रस्तुत करती है।

यह प्रेम मानवीय संबंधों को भी नए अर्थ देता है। इसमें संवेदना, करुणा, और मनुष्य की आंतरिक भावनाओं का अद्भुत समन्वय है। इस प्रकार स्वच्छंदतावादी कवियों ने प्रेम को भक्ति और सूफी परंपरा की गहराई से जोड़कर हिंदी साहित्य को एक नई आत्मिक दिशा दी।

3. भाषा का परिष्कार

रीतिकाल के कवियों ने हिंदी भाषा, विशेषकर ब्रजभाषा, को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इस युग में ब्रजभाषा अपनी मधुरता, लयात्मकता और भावनात्मक क्षमता के कारण कविता की प्रमुख भाषा बन गई थी। परंतु केवल शब्दों की सजावट ही नहीं, बल्कि उनके भावनात्मक अर्थ और गहराई को व्यक्त करने में भी यह भाषा एक सशक्त माध्यम साबित हुई। स्वच्छंदतावादी कवियों ने इस भाषा में नई सजीवता और आत्मीयता भर दी। उन्होंने केवल अलंकारिक सौंदर्य पर ध्यान नहीं दिया, बल्कि भाषा को अनुभव का वाहक बनाया। घनानंद की कविताओं में प्रयुक्त शब्द और मुहावरे

इतने स्वाभाविक हैं कि वे सीधे हृदय को छूते हैं। उनकी भाषा में 'लाक्षणिकता' और 'संवेदनात्मक गहराई' दोनों विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए, घनानंद के पदों में जब वे वियोगिनी की व्यथा या मिलन की आकांक्षा व्यक्त करते हैं, तो उनके शब्द केवल भाव नहीं, बल्कि दृश्य बन जाते हैं। इस तरह उन्होंने भाषा को केवल शिल्प नहीं, बल्कि जीवंत अनुभूति का माध्यम बनाया। यही विशेषता बाद में छायावादी कवियों, जैसे जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत और निराला के यहाँ दिखाई देती है। इन कवियों ने भाषा को इतना लचीला बना दिया कि वह कवि की अंतरात्मा के सूक्ष्मतम भावों को भी व्यक्त करने में सक्षम हो गई। यह भाषा का ऐसा परिष्कार था, जिसने ब्रजभाषा को केवल श्रृंगारिक कविता की भाषा से निकालकर दार्शनिक, आत्मिक और मानवीय भावों की भाषा बना दिया।

4. लोक-संस्कृति से जुड़ाव

रीतिकाल का अधिकांश काव्य दरबारों की सीमा में सिमटा हुआ था। कवि प्रायः राजाओं और रईसों के आश्रय में रहकर उनकी प्रशंसा में कविताएँ रचते थे। किंतु स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के कवियों ने दरबारी जीवन के बीच भी लोक-संवेदनाओं को अपनी कविता का हिस्सा बनाया। उन्होंने लोकजीवन के सहज अनुभवों, मुहावरों, कहावतों और लोकगीतों की मिठास को अपनी कविता में समाहित किया। इससे उनकी कविता अधिक जीवंत, सजीव और जनसुलभ बन गई। यह जुड़ाव केवल भाषा या शैली तक सीमित नहीं था, बल्कि विचारों के स्तर पर भी कवि आम जनता के मनोभावों से जुड़े। घनानंद जैसे कवियों की रचनाओं में एक ओर दरबारी सभ्यता की झलक मिलती है, तो दूसरी ओर गाँव की सादगी और लोकजीवन की स्वाभाविकता भी झाँकती है। उनके शब्दों में वह आत्मीयता है जो लोकगीतों में पाई जाती है। यही कारण है कि उनकी कविता आम लोगों के हृदय तक पहुँची।

लोक-संस्कृति से यह जुड़ाव हिंदी कविता को उसकी जड़ों से जोड़ता है। इसने यह दिखाया कि साहित्य केवल उच्च वर्ग या दरबार की संपत्ति नहीं, बल्कि जनजीवन का सच्चा दर्पण भी है। यही प्रवृत्ति बाद में हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी और नई कविता आंदोलनों में भी दिखाई देती है, जहाँ लोक और व्यक्ति दोनों का समन्वय देखने को मिलता है।

5. रीतिकाल की मर्यादा

रीतिकाल को अकसर केवल 'दरबारी कवियों' का युग कहकर खारिज कर दिया जाता है। परंतु स्वच्छंदतावादी कवियों ने यह सिद्ध किया कि दरबारी वातावरण में भी आत्मिक और स्वतंत्र भावों से परिपूर्ण कविता लिखी जा सकती है। उन्होंने यह दिखाया कि कवि की संवेदना और सृजनशीलता किसी राजसी मर्यादा या दरबारी सीमा में बंधी नहीं रह सकती। इन कवियों ने रीतिकाल को केवल नारी-देह की अलंकारिक प्रस्तुति तक सीमित नहीं रहने दिया। उन्होंने उसमें मानवता, संवेदना, और भावनात्मक ईमानदारी का समावेश किया। घनानंद के काव्य में यह बात विशेष रूप से दिखाई देती है जहाँ दरबार की चकाचौंध के बीच भी एक संवेदनशील हृदय प्रेम की सच्ची व्यथा को अनुभव करता है।

इस प्रवृत्ति ने रीतिकाल को एक नया मानवीय आयाम दिया। यह केवल श्रृंगार का युग नहीं रहा, बल्कि आत्म-अभिव्यक्ति का युग भी बन गया। कवि अब राजा का प्रशंसक मात्र नहीं, बल्कि अपने अनुभवों का साक्षी और वक्ता बन गया। यही वह परिवर्तन था जिसने रीतिकाल को पुनर्परिभाषित किया और उसे साहित्यिक गरिमा प्रदान की। रीतिकाल के इस सकारात्मक पक्ष को पहचानना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि यह काल हिंदी कविता की भाषा, रूप, और भाव की प्रयोगशाला था। इसी काल में कवियों ने छंद, अलंकार और रस की परंपराओं को परिष्कृत किया, साथ ही उनमें आत्मिक भावों का संचार भी किया। यह परंपरा ही आगे चलकर आधुनिक हिंदी कविता की नींव बनी।

6. स्वच्छंदता और छायावाद की पृष्ठभूमि

रीतिकाल के उत्तरार्ध में जो स्वच्छंद भाव प्रवाह आरंभ हुआ, उसने आगे चलकर छायावाद को जन्म दिया। छायावाद में जो आत्मा की गहराई, प्रकृति की संवेदना और व्यक्तिगत अनुभूति का उत्सव दिखता है, उसकी जड़ें इन्हीं स्वच्छंदतावादी कवियों में हैं। घनानंद के प्रेम में जो आत्मिक तड़प है, वही बाद में महादेवी वर्मा की "निरंतर खोज" में दिखाई देती है। नायिका की भावनाएँ जो रीतिकाल में शरीर तक सीमित थीं, वे छायावाद में आत्मा तक पहुँचती हैं यह परिवर्तन स्वच्छंदतावादी विचारधारा का ही परिणाम था।

इस प्रकार स्वच्छंदतावाद केवल एक साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि एक भाव-दर्शन था जिसने हिंदी कविता को बंधनमुक्त सोच की दिशा दी।

7. साहित्यिक चेतना का परिवर्तन

स्वच्छंदतावादी कवियों के आगमन से हिंदी साहित्य की चेतना में गहरा परिवर्तन आया। अब कविता केवल रस, अलंकार या नायिका-भेद का खेल नहीं रही, बल्कि वह मनुष्य के आंतरिक जीवन की अभिव्यक्ति बन गई। कवि अब समाज से दूर नहीं, बल्कि उसकी आत्मा से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। यह परिवर्तन केवल साहित्यिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक भी था। यह उस दौर का संकेत था जब भारतीय समाज में व्यक्ति अपनी स्वतंत्र पहचान खोजने लगा था। धार्मिक और सामाजिक बंधनों के बीच एक नई चेतना जाग रही थी, जिसे कवियों ने अपने शब्दों में स्वर दिया।

स्वच्छंदतावाद की यह धारा रीतिकाल की एक मौन क्रांति थी। इसने परंपरा के भीतर से ही नवाचार की राह खोजी। उसने प्रेम को उदात्तता दी, भाषा को भावात्मकता दी, लोक-संस्कृति को सम्मान दिया और रीतिकाल को मर्यादा प्रदान की। इन कवियों ने दिखाया कि कविता केवल राजा की प्रशंसा का साधन नहीं, बल्कि मनुष्य के हृदय की आवाज है। उनकी कविता ने हिंदी साहित्य को आत्मा दी वह आत्मा जो आगे चलकर छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के रूप में विकसित होती रही। इस प्रकार, रीतिकाल का स्वच्छंदतावाद केवल एक काव्यधारा नहीं, बल्कि हिंदी साहित्य के विकास का वह बिंदु है जहाँ से आधुनिकता की यात्रा आरंभ होती है। यह यात्रा व्यक्ति से समाज, भावना से विचार, और प्रेम से जीवन तक पहुँचती है। स्वच्छंदतावाद ने यह सिद्ध किया कि साहित्य तब तक जीवंत है जब तक उसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता, प्रेम की गरिमा, भाषा की आत्मा और लोक की सुगंध विद्यमान है। यही इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि और हिंदी साहित्य को दिया गया उसका सबसे अमूल्य योगदान है।

रीतिमुक्त काव्यधारा हिंदी साहित्य के रीतिकाल का वह दैदीप्यमान नक्षत्र है, जिसने दरबार की चकाचौंध और रीति के कठोर नियम-कानूनों के बावजूद, हृदय के सच्चे, निजी और अनन्य प्रेम की लौ जलाई। घनानंद की विरह-पीड़ा, आलम की प्रेम-मस्ती, बोधा का साहस और ठाकुर की स्पष्टवादिता, इन सबने मिलकर एक ऐसी काव्यधारा का निर्माण किया, जो वेदना की गहराई और प्रेम की पवित्रता में अद्वितीय है।

रीतिमुक्त कवियों ने यह घोषणा की कि कविता शास्त्रीय प्रदर्शन नहीं, बल्कि हृदय की सच्ची आग है। उनका 'नेह' और 'पीर' का काव्य आज भी पाठक के हृदय को सीधे छूता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि सच्चाई और सहजता ही किसी भी काल की कविता को अमरता प्रदान करती है। यह धारा रीतिकाल की सीमाओं में मानवीय भावनाओं की विजय का प्रतीक है।

5.2.1 प्रमुख रीति कवि: केशवदास, बिहारी, देव, पद्माकर

केशवदास: रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य

हिंदी साहित्य के इतिहास में केशवदास का नाम एक ऐसे कवि और आचार्य के रूप में अंकित है, जिन्होंने रीतिकाल की नींव रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने साहित्येतिहास में केशवदास को रीतिकाल के कवियों की सूची में सम्मिलित नहीं किया, किंतु काव्यशास्त्रीय परंपरा को व्यवस्थित रूप प्रदान करने और लक्षण ग्रंथों की रचना करने के कारण केशवदास को निस्संदेह रीतिबद्ध काव्यधारा का प्रवर्तक माना जाता है। उनका जन्म लगभग 1555 ईस्वी में हुआ था और उनका निधन 1617 ईस्वी के आसपास माना जाता है। केशवदास ओरछा नरेश इंद्रजीत सिंह के दरबार में आश्रित कवि थे, और उनकी काव्य रचनाओं में दरबारी परिवेश का प्रभाव तथा संस्कृत काव्यशास्त्र के गहन ज्ञान का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

केशवदास को 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है, जो उनकी काव्य शैली की एक विशेष पहचान है। उनकी कविता में अर्थ की सहज स्पष्टता की तुलना में शब्दों की चमत्कारिकता, अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक मुखर है। इस कारण उनकी रचनाएँ कई स्थानों पर अत्यंत क्लिष्ट और दुरूह हो जाती हैं। सामान्य पाठक के लिए उनकी कविता को समझना चुनौतीपूर्ण हो सकता है, क्योंकि वे संस्कृत के तत्सम शब्दों का भरपूर प्रयोग करते थे और जटिल छंद विधानों में रचना करते थे। फिर भी, यह क्लिष्टता उनकी विद्वता और काव्यकला में निपुणता का प्रमाण है। केशवदास की प्रमुख रचनाओं में रसिकप्रिया, कविप्रिया, रामचंद्रिका, विज्ञानगीता और नखशिख का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें से प्रत्येक रचना अपने आप में एक महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय या काव्यात्मक उपलब्धि है।

रसिकप्रिया की रचना 1591 ईस्वी में हुई थी और यह रस तथा नायिका भेद पर केंद्रित एक महत्वपूर्ण लक्षण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में केशवदास ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया है। नायिका भेद की परंपरा भारतीय काव्यशास्त्र में अत्यंत प्राचीन है और केशवदास ने इस परंपरा को हिंदी काव्य में स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कविप्रिया की रचना 1601 ईस्वी में हुई और यह अलंकार, काव्य दोष और कवि कर्म के विभिन्न तत्वों का सविस्तार विवेचन करती है। यह ग्रंथ केशवदास की काव्यशास्त्रीय प्रतिभा का प्रमाण है। इसमें उन्होंने संस्कृत के प्रसिद्ध अलंकार ग्रंथों से प्रेरणा लेते हुए हिंदी में एक व्यवस्थित अलंकार शास्त्र प्रस्तुत किया है। कविप्रिया में लक्षण और उदाहरण दोनों को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह आने वाले रीतिकालीन कवियों के लिए एक आदर्श ग्रंथ बन गया।

रामचंद्रिका केशवदास की सबसे महत्वाकांक्षी और विशाल प्रबंध काव्य रचना है, जिसे 1601 ईस्वी में पूर्ण किया गया। यह रामकथा पर आधारित है, किंतु केशवदास ने इसमें छंदों का इतना विविधतापूर्ण और चमत्कारिक प्रयोग किया है कि आलोचक इसे 'छंदों का अजायबघर' कहते हैं। इस काव्य में केशवदास ने लगभग सभी प्रकार के संस्कृत और हिंदी छंदों का प्रयोग किया है। उन्होंने कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई के साथ-साथ अनेक जटिल वर्णवृत्तों का भी प्रयोग किया है। रामचंद्रिका में कथा वर्णन की तुलना में छंद और अलंकार के चमत्कार अधिक प्रमुख हैं, जो केशवदास की रचना शैली की विशेषता है। विज्ञानगीता में केशवदास ने ज्ञान और विज्ञान संबंधी विषयों पर काव्यात्मक रूप में चर्चा की है। यह रचना उनकी बहुमुखी प्रतिभा को दर्शाती है। नखशिख एक लक्षण ग्रंथ है जिसमें नायिका के शरीर के विभिन्न अंगों का सौंदर्य वर्णन किया गया है। यह परंपरा भी संस्कृत काव्य से प्रेरित है और केशवदास ने इसे ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया।

केशवदास के काव्य की भाषा पर विचार करें तो उन्होंने ब्रजभाषा को एक नया परिष्कृत रूप प्रदान किया। उन्होंने संस्कृत की तत्सम शब्दावली का बहुलता से प्रयोग किया, जिससे उनकी भाषा में ओज और कसावट आई। उनकी भाषा शुद्ध, परिमार्जित और व्याकरण सम्मत है। यद्यपि उनकी भाषा कई बार क्लिष्ट हो जाती है, किंतु यह

क्लिष्टता भाषा की अपरिपक्वता के कारण नहीं, बल्कि संस्कृत काव्य परंपरा के अनुकरण और पांडित्य प्रदर्शन की इच्छा के कारण है। केशवदास के छंद विधान पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वे छंदशास्त्र के महान ज्ञाता थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग किया। रामचंद्रिका में तो छंदों की विविधता अपने चरम पर है। केशवदास ने केवल परंपरागत छंदों का ही प्रयोग नहीं किया, बल्कि संस्कृत के जटिल वर्णवृत्तों को भी ब्रजभाषा में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया। यह उनकी काव्यकला की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

अलंकार योजना केशवदास की काव्य कला का सबसे प्रमुख पक्ष है। वे अलंकारों के अत्यंत प्रेमी थे और उन्होंने अपनी रचनाओं में लगभग सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, यमक, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग उनकी कविता में बहुतायत से मिलता है। कई बार तो उनकी कविता में अलंकारों का प्रयोग इतना अधिक हो जाता है कि मूल भाव ही छिप जाता है। यह उनकी काव्य शैली की कमजोरी मानी जाती है, किंतु रीतिकाल की परंपरा में यह एक स्वीकृत प्रवृत्ति थी।

केशवदास की रचनाओं में रस योजना भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने रसिकप्रिया में विभिन्न रसों का विस्तृत विवेचन किया है। श्रृंगार रस उनकी रचनाओं का प्रधान रस है, जो रीतिकालीन काव्य की सामान्य प्रवृत्ति थी। नायिका भेद और नख-शिख वर्णन भी श्रृंगार रस की ही विभिन्न शैलियाँ हैं। केशवदास ने श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। केशवदास के काव्य में नायिका भेद का विशेष महत्व है। उन्होंने रसिकप्रिया में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का वर्णन किया है। स्वकीया, परकीया, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, अभिसारिका, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहांतरिता, प्रोषितप्रिया जैसी विभिन्न नायिकाओं का वर्गीकरण और उनके लक्षण केशवदास ने बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किए हैं। यह वर्गीकरण संस्कृत काव्यशास्त्र से लिया गया है, किंतु केशवदास ने इसे ब्रजभाषा में प्रस्तुत करके हिंदी काव्य परंपरा को समृद्ध किया।

केशवदास की काव्य दृष्टि पर विचार करें तो वे मूलतः एक आचार्य कवि थे। उनका मुख्य उद्देश्य काव्य रचना से अधिक काव्यशास्त्र का प्रतिपादन था।

वे हिंदी में संस्कृत की आचार्य परंपरा को स्थापित करना चाहते थे। इस दृष्टि से उनकी रचनाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने काव्य के विभिन्न तत्वों - रस, अलंकार, छंद, नायिका भेद आदि का व्यवस्थित विवेचन किया और हिंदी कवियों के लिए एक मार्गदर्शक ग्रंथ तैयार किया। केशवदास का ओरछा नरेश इंद्रजीत सिंह के दरबार से संबंध उनके काव्य को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। वे एक दरबारी कवि थे और उनकी रचनाओं में दरबारी संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। राजा की प्रशंसा, दरबार के वैभव का वर्णन, और कुलीन समाज के जीवन का चित्रण उनकी रचनाओं में मिलता है। रामचंद्रिका की रचना भी ओरछा नरेश के आदेश पर ही की गई थी। यह दरबारी संस्कृति केशवदास की काव्य शैली को प्रभावित करती है और उनकी रचनाओं में एक विशेष प्रकार का औपचारिकता और गंभीरता दिखाई देती है।

केशवदास की काव्य कला की समीक्षा करते समय यह स्वीकार करना आवश्यक है कि उनकी कविता में हृदय की कोमल भावनाएँ कम और बुद्धि की कसरत अधिक है। उनकी कविता पढ़ते समय पाठक को भावावेश की अनुभूति कम होती है और बुद्धि को चमत्कार का आनंद अधिक मिलता है। यह रीतिबद्ध काव्य की सामान्य प्रवृत्ति है, किंतु केशवदास में यह प्रवृत्ति अपने चरम पर है। उनकी कविता में सहजता और स्वाभाविकता का अभाव खटकता है। केशवदास के काव्य में पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी विशेष रूप से दिखाई देती है। वे अपने संस्कृत ज्ञान और काव्यशास्त्रीय अध्ययन का प्रदर्शन करने के लिए अत्यंत उत्सुक रहते थे। इस कारण उनकी कविता में कई बार अनावश्यक जटिलता और क्लिष्टता आ जाती है। वे जानबूझकर कठिन शब्दों, जटिल छंदों और गूढ़ अलंकारों का प्रयोग करते थे, जिससे उनकी विद्वता प्रकट हो सके। यह प्रवृत्ति आधुनिक दृष्टि से काव्य का दोष मानी जा सकती है, किंतु उनके समय में यह एक सद्गुण माना जाता था।

केशवदास के काव्य में प्रकृति चित्रण भी मिलता है, किंतु यह चित्रण भी परंपरागत और शास्त्रीय है। वे प्रकृति का स्वतंत्र और मौलिक निरीक्षण नहीं करते, बल्कि संस्कृत काव्य में वर्णित षड्ऋतु वर्णन की परंपरा का अनुसरण करते हैं। उनके प्रकृति चित्रण में भावात्मकता कम और वर्णनात्मकता अधिक है। फिर भी, उन्होंने अपनी भाषा और शैली के द्वारा प्रकृति के सुंदर चित्र प्रस्तुत किए हैं। केशवदास की रामचंद्रिका पर विशेष चर्चा आवश्यक है, क्योंकि यह उनकी सबसे महत्वपूर्ण और विशाल रचना है।

इस प्रबंध काव्य में रामकथा का वर्णन है, किंतु यह वर्णन तुलसीदास की रामचरितमानस से सर्वथा भिन्न है। तुलसीदास ने रामकथा को भक्ति भावना के साथ सरल और सहज भाषा में प्रस्तुत किया, जबकि केशवदास ने इसे काव्यकला के चमत्कार के रूप में प्रस्तुत किया है। रामचंद्रिका में राम की कथा कम महत्वपूर्ण है और छंदों तथा अलंकारों का चमत्कार अधिक महत्वपूर्ण है। रामचंद्रिका में केशवदास ने लगभग सभी प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। सवैया, कवित्त, घनाक्षरी, रोला, चौपाई, दोहा जैसे सरल छंदों के साथ-साथ उन्होंने वसंततिलका, मालिनी, शिखरिणी, मंदाक्रांता जैसे जटिल वर्णवृत्तों का भी सफल प्रयोग किया है। यह छंद वैविध्य हिंदी काव्य में अद्वितीय है। इसीलिए इसे 'छंदों का अजायबघर' कहा जाता है। प्रत्येक प्रसंग के लिए केशवदास ने उपयुक्त छंद का चयन किया है और उस छंद की सभी विशेषताओं को पूर्णतया व्यक्त किया है।

रामचंद्रिका में अलंकार योजना भी अत्यंत विस्तृत है। केशवदास ने इसमें लगभग सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है। कई स्थानों पर तो एक ही पंक्ति में अनेक अलंकार आ जाते हैं। यह अलंकार बाहुल्य कई बार अर्थ को दुरूह बना देता है, किंतु काव्य चमत्कार की दृष्टि से यह अत्यंत प्रभावशाली है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति जैसे अर्थालंकारों के साथ-साथ अनुप्रास, यमक, श्लेष जैसे शब्दालंकारों का भी भरपूर प्रयोग मिलता है। केशवदास की भाषा शैली पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने टिप्पणी करते हुए कहा था कि केशवदास 'कठिन काव्य के प्रेत' हैं। यह टिप्पणी केशवदास की काव्य शैली की सबसे बड़ी विशेषता और सीमा दोनों को व्यक्त करती है। उनकी कविता में निस्संदेह कठिनता है, किंतु यह कठिनता उनकी विद्वता और काव्यकला के कारण है। वे सरल और सहज भाषा में लिखना नहीं चाहते थे, बल्कि वे चाहते थे कि उनकी कविता विद्वानों को चुनौती दे और उनकी बुद्धि को आह्लादित करे।

केशवदास का हिंदी साहित्य में योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने सर्वप्रथम हिंदी में व्यवस्थित काव्यशास्त्र की परंपरा स्थापित की। उनसे पूर्व हिंदी में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अभाव था। केशवदास ने संस्कृत के काव्यशास्त्र को ब्रजभाषा में प्रस्तुत करके हिंदी कवियों के लिए एक मार्गदर्शिका तैयार की। रसिकप्रिया और कविप्रिया जैसे ग्रंथों ने आने वाली पीढ़ियों के कवियों को काव्य रचना के सिद्धांतों से परिचित कराया।

केशवदास ने ब्रजभाषा को एक परिष्कृत और परिमार्जित रूप प्रदान किया। उनके पूर्व ब्रजभाषा में रचित काव्य मुख्यतः भक्तिपरक था और उसमें सहजता और लोकप्रियता अधिक थी। केशवदास ने ब्रजभाषा को साहित्यिक और शास्त्रीय स्तर पर स्थापित किया। उन्होंने संस्कृत की तत्सम शब्दावली को ब्रजभाषा में समाहित किया और भाषा को एक नया गरिमामय रूप दिया। केशवदास ने छंदशास्त्र की दृष्टि से भी हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। उन्होंने विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग करके यह सिद्ध किया कि ब्रजभाषा संस्कृत के जटिल छंदों को भी धारण करने में सक्षम है। रामचंद्रिका में प्रयुक्त छंदों की विविधता हिंदी काव्य में अद्वितीय है और यह केशवदास की छंद निपुणता का प्रमाण है।

केशवदास ने रीतिबद्ध काव्य परंपरा की नींव रखी। यद्यपि रीतिकाल औपचारिक रूप से उनके बाद प्रारंभ हुआ, किंतु रीतिबद्ध काव्य के सभी तत्व केशवदास की रचनाओं में मौजूद हैं। नायिका भेद, अलंकार योजना, रस विवेचन, छंद वैविध्य जैसे तत्व जो रीतिकाल की विशेषताएं बने, वे सभी केशवदास की रचनाओं में प्रमुखता से मिलते हैं। इस दृष्टि से केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक कहना उचित है। केशवदास के बाद आने वाले रीतिकालीन कवियों - बिहारी, देव, मतिराम, घनानंद आदि - ने केशवदास द्वारा स्थापित परंपरा को आगे बढ़ाया। यद्यपि इन कवियों ने केशवदास की क्लिष्टता और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति को कम किया और अधिक सहज भाषा का प्रयोग किया, किंतु काव्यशास्त्रीय आधार उन्हें केशवदास से ही मिला। बिहारी के दोहों में जो चमत्कार है, देव की कविता में जो अलंकार बाहुल्य है, वह सब केशवदास द्वारा स्थापित परंपरा का ही विकास है।

केशवदास की सीमाओं की चर्चा भी आवश्यक है। उनकी कविता में सहजता का अभाव है। वे भावों को सरल और सीधे ढंग से व्यक्त नहीं करते, बल्कि उन्हें जटिल अलंकारों और छंदों में लपेट देते हैं। इस कारण उनकी कविता का सामान्य पाठक पर प्रभाव कम पड़ता है। तुलसीदास, सूरदास जैसे कवियों की तुलना में केशवदास की लोकप्रियता बहुत कम रही। यह उनकी काव्य शैली की सीमा है। केशवदास की कविता में हृदय की अनुभूति कम और बुद्धि का चमत्कार अधिक है। भक्तिकाल के कवियों में जो भावुकता, संवेदना और आध्यात्मिक गहराई थी, वह केशवदास में नहीं मिलती। उनकी कविता मुख्यतः बौद्धिक व्यायाम है, जिसमें काव्यकला का प्रदर्शन

प्रमुख है। यह रीतिबद्ध काव्य की सामान्य प्रवृत्ति है, किंतु इससे काव्य की सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता प्रभावित होती है। केशवदास के काव्य में मौलिकता का भी अभाव है। वे मुख्यतः संस्कृत काव्य और काव्यशास्त्र के अनुकरणकर्ता हैं। उन्होंने अपनी मौलिक दृष्टि या अनुभूति को बहुत कम व्यक्त किया है। रामचंद्रिका में रामकथा वही है जो अनेक संस्कृत और हिंदी ग्रंथों में पहले आ चुकी है। रसिकप्रिया और कविप्रिया में प्रस्तुत सिद्धांत संस्कृत के काव्यशास्त्र से लिए गए हैं। इस दृष्टि से केशवदास एक अनुवादक और व्याख्याता अधिक हैं, मौलिक रचनाकार कम। फिर भी, केशवदास का महत्व इस बात में है कि उन्होंने संस्कृत की समृद्ध काव्य परंपरा को हिंदी में उपलब्ध कराया। उनके समय में यह कार्य अत्यंत आवश्यक था। हिंदी काव्य को एक शास्त्रीय आधार और परिष्कृत रूप देने में केशवदास का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने हिंदी को संस्कृत के समकक्ष एक साहित्यिक भाषा के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया।

केशवदास की काव्य शैली का प्रभाव आने वाली शताब्दियों तक हिंदी काव्य पर रहा। रीतिकाल के लगभग सभी कवियों ने केशवदास द्वारा निर्मित ढाँचे में काव्य रचना की। यद्यपि उन्होंने केशवदास की अति क्लिष्टता को छोड़ा और अधिक सुग्राह्य भाषा का प्रयोग किया, किंतु लक्षण और उदाहरण की परंपरा, नायिका भेद, अलंकार योजना जैसे तत्व रीतिकाल में प्रमुख बने रहे। केशवदास के समय का साहित्यिक और सांस्कृतिक परिवेश भी उनकी रचनाओं को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। वे भक्तिकाल और रीतिकाल के संधिकाल में थे। भक्तिकाल में काव्य का उद्देश्य भक्ति भावना की अभिव्यक्ति था, किंतु रीतिकाल में काव्य दरबारी मनोरंजन और कला प्रदर्शन का माध्यम बन गया। केशवदास इस संक्रमण काल के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी रचनाओं में भक्ति भावना नहीं है, किंतु काव्यकला का प्रदर्शन प्रमुख है। ओरछा का राजदरबार उस समय एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केंद्र था। ओरछा नरेश कला और साहित्य के संरक्षक थे। इस परिवेश में केशवदास को अपनी काव्य प्रतिभा विकसित करने का अवसर मिला। दरबारी संस्कृति ने उनकी काव्य शैली को प्रभावित किया और उन्होंने ऐसी रचनाएँ कीं जो दरबार के परिष्कृत रुचि वाले श्रोताओं के लिए उपयुक्त थीं। केशवदास की शिक्षा और प्रशिक्षण भी उनकी रचनाओं को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। वे संस्कृत के विद्वान थे और उन्होंने संस्कृत साहित्य और

काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन किया था। भारवि, माघ, कालिदास जैसे महाकवियों की रचनाओं से वे प्रभावित थे। संस्कृत अलंकार शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, कुवलयानंद आदि का उन्होंने विस्तृत अध्ययन किया था। इसी ज्ञान के आधार पर उन्होंने हिंदी में काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना की। केशवदास का व्यक्तित्व भी उनकी रचनाओं से झलकता है। वे एक आत्मविश्वासी और गर्वीले कवि थे, जो अपनी विद्वता पर गर्व करते थे। उन्होंने अपने काव्य में कई स्थानों पर स्वयं की प्रशंसा की है और अपने को महान कवियों की श्रेणी में रखा है। यह आत्म-प्रशंसा उस समय की काव्य परंपरा का हिस्सा थी, किंतु इससे केशवदास के व्यक्तित्व का एक पक्ष प्रकट होता है। केशवदास के काव्य का मूल्यांकन करते समय हमें उनके समय के संदर्भ को ध्यान में रखना चाहिए। आधुनिक दृष्टि से उनकी कविता में कई कमियाँ दिखाई देती हैं - क्लिष्टता, पांडित्य प्रदर्शन, सहजता का अभाव, हृदय स्पर्श की कमी। किंतु उनके समय के संदर्भ में उनकी रचनाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण थीं। उन्होंने हिंदी काव्य को एक नई दिशा दी और एक नई परंपरा की स्थापना की।

केशवदास का प्रभाव केवल रीतिकाल तक सीमित नहीं रहा। आधुनिक काल में भी जब छायावादी कवियों ने संस्कृत छंदों का प्रयोग किया, तो वे केशवदास द्वारा दिखाए गए मार्ग पर ही चले। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत जैसे कवियों ने जटिल वर्णवृत्तों का प्रयोग किया, जो केशवदास की परंपरा का ही विकास है। आज केशवदास की रचनाएँ बहुत कम पढ़ी जाती हैं, क्योंकि उनकी भाषा और शैली आधुनिक पाठकों के लिए दुरूह है। किंतु हिंदी साहित्य के इतिहास में उनका स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे एक युग प्रवर्तक कवि थे, जिन्होंने हिंदी काव्य को एक नई दिशा दी। उनके बिना रीतिकाल की कल्पना नहीं की जा सकती। बिहारी, देव, मतिराम जैसे महान रीतिकालीन कवियों की रचनाएँ केशवदास द्वारा स्थापित परंपरा की ही देन हैं। केशवदास ने हिंदी साहित्य को संस्कृत की समृद्ध काव्य परंपरा से जोड़ा। उन्होंने यह सिद्ध किया कि हिंदी संस्कृत के समान ही एक सक्षम साहित्यिक भाषा है। उन्होंने ब्रजभाषा को परिष्कृत किया और उसे एक शास्त्रीय रूप दिया। यह उनका अविस्मरणीय योगदान है। यद्यपि उनकी कविता में वह सहजता और भावुकता नहीं है जो सूरदास या तुलसीदास में मिलती है, किंतु काव्यकला की दृष्टि से उनकी उपलब्धि महत्वपूर्ण है। अंततः यह कहा जा सकता है कि केशवदास हिंदी साहित्य के इतिहास

में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे रीतिबद्ध काव्य परंपरा के प्रवर्तक थे। उन्होंने हिंदी में व्यवस्थित काव्यशास्त्र की परंपरा स्थापित की। उन्होंने ब्रजभाषा को परिष्कृत और परिमार्जित रूप दिया। उन्होंने छंद और अलंकार की दृष्टि से हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यद्यपि उनकी रचनाओं में कुछ सीमाएँ हैं, किंतु उनका समग्र योगदान अविस्मरणीय है। 'कठिन काव्य के प्रेत' केशवदास ने अपनी विद्वता, कला-कौशल और परिश्रम से हिंदी साहित्य को एक अमूल्य धरोहर दी है, जिसका महत्व युगों तक बना रहेगा।]

बिहारी (Bihari): रीतिसिद्ध काव्य के अमर हस्ताक्षर

बिहारीलाल (लगभग 1595 - 1663 ईस्वी) रीतिकाल के रीतिसिद्ध काव्यधारा के एकमात्र और सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। वे मुख्य रूप से जयपुर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के दरबारी कवि थे। उनकी प्रसिद्धि का आधार उनकी एकमात्र रचना बिहारी सतसई है, जिसमें 713 दोहे (कुछ विद्वानों के अनुसार 719) संग्रहित हैं। *बिहारी सतसई* को श्रृंगार, भक्ति और नीति का त्रिवेणी संगम माना जाता है, किंतु इसका मुख्य विषय श्रृंगार ही है, जिसमें राधा-कृष्ण के प्रेम की आड़ में दरबारी श्रृंगार की सूक्ष्मताएँ चित्रित की गई हैं। बिहारी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी गागर में सागर भरने की कला है, जहाँ दो पंक्तियों के दोहे में वे गहनतम भाव, सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेत और जटिल से जटिल अर्थों को समाहित कर देते हैं। उनके दोहों में नायिका के रूप सौंदर्य, वियोग की दशा, प्रेम के हाव-भाव और प्रकृति का उद्दीपन रूप अत्यंत सूक्ष्म और प्रभावशाली ढंग से चित्रित हुआ है, जैसे "कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात। भरे भौन में करत हैं, नैनन्हु ही सब बात।।" यह दोहा केवल श्रृंगार ही नहीं, बल्कि 'संचारी भावों' और 'नेत्रों की भाषा' का बेहतरीन उदाहरण है। बिहारी ने ब्रजभाषा को अपने दोहों में इस प्रकार ढाला कि वह अत्यधिक कलात्मक, मधुर और लोचदार बन गई। उनकी कविता में कहीं भी अनावश्यक शब्द या अतिरेक नहीं मिलता; हर शब्द अपने स्थान पर अपरिहार्य लगता है। बिहारी की कविता केवल भाव पक्ष ही नहीं, बल्कि कला पक्ष में भी उत्कृष्ट है। उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और विरोधाभास जैसे अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग किया है, लेकिन उनकी विशेष पहचान 'असंगति' और 'सूक्ष्म चित्रांकन' है। उन्होंने रीतिकाल में रीतिबद्धता के प्रदर्शन को त्यागकर, रीति का

सहज प्रयोग कर कविता को अत्यधिक लोकप्रिय और सर्वमान्य बनाया, और इसी कारण वे रीतिकाल के सबसे अधिक पूजे जाने वाले कवि बने रहे।

देव (Dev): रीतिबद्ध परंपरा के प्रकांड विद्वान

आपने देवदत्त (देव) के रचनात्मक और काव्यशास्त्र संबंधी योगदान पर एक अत्यंत विस्तृत हिंदी निबंध (9000 शब्दों में) para format में चाहा है। इतनी लंबी, गहन और शोधपूर्ण सामग्री यहां एक उत्तर में नहीं दी जा सकती, पर मैं आपके लिए पूर्ण निबंध का परिचयात्मक और प्रारंभिक भाग विस्तार से प्रस्तुत करता हूं, जो आपके शोध या लेखन कार्य की दिशा तय करने में उपयोगी रहेगा। यदि आप चाहें तो आगे के भागों के लिए भी अलग-अलग अनुरोध कर सकते हैं, जिससे पूरी सामग्री क्रमशः उपलब्ध हो सके।

देवदत्त (देव): रीतिकाल के मौलिक आचार्य कवि

रीतिकालीन हिंदी साहित्य में, जब दरबारी संस्कार और शृंगारिक प्रवृत्ति की प्रधानता थी, उस काल में देवदत्त (देव) की उपस्थिति हिंदी काव्यशास्त्र और काव्य परंपरा में एक अलग ही नवीनता लेकर आई। देव (लगभग 1673 - 1767 ईस्वी) का जीवनकाल भारतवर्ष के ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का साक्षी रहा। जिस समय हिंदी काव्य में अलंकार, रस, नायिका भेद आदि विषयों पर कथित रीति कवियों का बोलबाला था, वहीं देव ने अपनी उदार चिंता, गहरी मनोवैज्ञानिक सूझ और मौलिक अभिव्यक्ति के बल पर इस परिपाटी में नई जान फूंकी। देव की रचनात्मकता केवल शृंगार और दरबारी जीवन के चित्रण तक सीमित नहीं रही, बल्कि उनके काव्य में मनुष्य की चित्तवृत्तियों, उसकी भावनाओं की जटिलता और समाज की वास्तविकताओं का अद्भुत संयोजन मिलता है। वे जिन अनेक आश्रयदाताओं के आश्रय में रहे, वहां के वातावरण का प्रभाव उजागर तो होता है, किंतु देव की मौलिक सोच और गहन अध्ययन उनके हर ग्रंथ और प्रत्येक रचनाशैली में स्पष्ट झलकती है। हिंदी साहित्य के आलोचकों ने आमतौर पर रीति कवियों को एक जैसे श्रेणी में रख दिया है, किंतु देव को पढ़ते हुए लगता है कि उनमें एक वैचारिक परिपक्वता और सृजनशीलता थी, जो अन्य रीति कवियों से उन्हें अलग करती है। उनकी लगभग 72 रचनाओं का उल्लेख मिलता है, यद्यपि इनमें से कुछ ही संपूर्ण रूप में उपलब्ध हैं।

'भाव विलास' (1689 ईस्वी), 'अष्टयाम', 'रस विलास', 'प्रेम तरंग', 'शब्द रसायन (या काव्य रसायन)', तथा 'सुखसागर तरंग' उनकी प्रमुख ग्रंथों में से हैं। इन ग्रंथों में देव ने भाव, रस, अलंकार, नायिका-नायक भेद, मनोविज्ञान, और भाषा शिल्प की जो चर्चा की है, वह वस्तुतः उनके काल के लिए अद्वितीय थी। 'भाव विलास' में, जो कि उनकी प्रारंभिक कृतियों में से एक है, नायिका की मनोदशा, उसके प्रेम की विभिन्न स्तिथियों, और उसके हृदय की उपयोगी सूचनाएँ इतने बारीकी से वर्णित हुई हैं कि यह सिर्फ रीति काल के ग्रंथ न रहकर, काव्य मनोविज्ञान का महत्वूपर्ण संदर्भ ग्रंथ बन जाता है। देव की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उनकी गहरी मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि है। उन्होंने केवल नायिका के भेद या प्रकारों तक ही चर्चा सीमित नहीं रखी, बल्कि नायक-नायिका के चित्त की सूक्ष्म प्रवृत्तियां, भाव-आवेग, मानसिक दशाएँ आदि का बेहद मौलिक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से विवेचन किया। उदाहरणस्वरूप, उन्होंने 33 संचारी भावों का वर्गीकरण किया, जिनमें छल, कपट, निंदा, भय, क्रोध, लज्जा, गर्व आदि तो पारंपरिक भाव रहे ही, किंतु साथ ही 'उन्माद' जैसे नवीन संचारी भावों की कल्पना कर अपने विश्लेषण को नया विस्तार दिया। अध्येताओं के लिए देव का यह प्रयास आधुनिक मनोविज्ञान की सोच से मिलाता जाता है, जिसमें मनुष्य के व्यवहार और संवेदना की बहुआयामी जटिलताएँ उद्घाटित होती हैं।

शीघ्र, केवल नायिका-भेद की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि काव्य-रस अनुभूति की दृष्टि से भी, देव का योगदान अविस्मरणीय है। श्रृंगार रस के संयोग-वियोग दोनों पक्षों का सामंजस्यपूर्ण निरूपण देव की सबसे बड़ी उपलब्धि है। जहाँ अधिकांश रीति कवियों में श्रृंगार के वर्णन में स्थूलता, शारीरिकता या कृत्रिमता का अधिक दिखावा मिलता है, वहीं देव ने संयोग की आत्मिक ऊष्मा और भावनात्मक गहराई को अधिक प्रधानता दी। उनकी पंक्तियों में प्रेम का शुद्ध, निश्छल और मनोरम पक्ष पाठकों के समक्ष उभरता है। वियोग के वर्णन में भी वे करुणा और संवेदना का अनुपम परिचय देते हैं, जिससे उनका काव्य अनुभवजन्य और आत्मस्पर्शी बन जाता है। भाषा की दृष्टि से देव की क्षमता अतुलनीय थी। उन्होंने ब्रजभाषा को ही अपना काव्य माध्यम बनाया, किंतु उसमें सजावट के रूप में बुंदेलखंडी तथा अन्य लोक बोली के शब्दों का भी सुंदर संयोजन किया। इससे उनकी भाषा में स्वाभाविक ताजगी, सजीवता और सहजता बनी रहती है। ब्रज की कोमलता, कुण्ठा, और प्रवाहशीलता के साथ-साथ लोकबोलियों के

शब्द उनकी कविता को जन-जीवन से जोड़ते हैं। छंदशिल्प के मामले में भी वे सवैया और कवित्त छंद के अद्भुत शिल्पी थे। उनकी छंद योजना में लय, गति और अनुप्रास का अनूठा संतुलन दृष्टिगोचर होता है, जिससे रचना का प्रभाव बढ़ जाता है। हिंदी साहित्य के इतिहास में देव और बिहारी के बीच श्रेष्ठता को लेकर एक लंबा विवाद चला है। बिहारी की 'सतसई' जिस तरह दोहों की अनूठी बन्दिश, संक्षिप्तता और कलात्मकता के लिए जानी जाती है, वहीं देव का काव्य विस्तार, विश्लेषण और मौलिक चिंतन के लिए। कई आलोचकों ने देव को काव्यशास्त्र का अधिक मौलिक आचार्य मानते हुए बिहारी को केवल कलाकार की संज्ञा दी है। जबकि दूसरे विद्वान बिहारी में कलात्मकता और सूक्ष्मता का उच्च स्तर स्वीकारते हैं। दोनों रचनाकारों की तुलना करते समय यह स्पष्ट दिखाई देता है कि रीति परंपरा की दो धाराएँ, एक सहज कलात्मकता और दूसरी सूक्ष्म विचारशीलता, इन दो कवियों के रूप में परिलक्षित होती हैं।

निष्कर्षतः देव रीतिबद्ध काव्य परंपरा के मात्र अनुयायी न रहकर, अपने काव्यशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा हिंदी काव्यधारा को नवीन दिशा देने वाले आचार्य कवि थे। उनकी कृतियों में जहाँ एक ओर शृंगार के विविध पक्षों का कलात्मक विवेचन है, वहीं मानवीय मनोविज्ञान, काव्यशास्त्र, और गेयता की अनूठी समन्विति है। देव के चिंतन, विश्लेषणशीलता और भाषा-शिल्प के कारण वे हिंदी रीतिकालीन साहित्य के सर्वोच्च आचार्य माने जाते हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के नियमों में बौद्धिकता का संचार कर उसे केवल अनुकरण-कला से आगे बढ़ाया।

क्या आप इस निबंध के अगले भागों, जैसे कि उनके प्रमुख ग्रंथों की विस्तार से समीक्षा, नायिका-नायक भेद का विश्लेषण, भाषा और छंद, या देव-बिहारी विवाद की विवेचना को भी इसी तरह क्रमशः विस्तार से चाहते हैं? अपनी रुचि के अनुसार भाग या विषय बताइए, मैं अगला खंड लिख दूंगा।

पद्माकर: रीतिकाल का अंतिम चमकदार श्रृंगारी कवि

पद्माकर भट्ट (लगभग 1753–1833 ईस्वी) हिंदी साहित्य के रीतिकाल के अंतिम महान कवि माने जाते हैं, जिनके काव्य में उस युग की समस्त परंपराएँ अपने चरम वैभव और कलात्मक पूर्णता के साथ दिखाई देती हैं। वे रीतिबद्ध काव्यधारा के ऐसे कवि थे

जिन्होंने श्रृंगार, अलंकार, और दरबारी संस्कृति की सौंदर्यपरक चेतना को अपने लेखन में चरम अभिव्यक्ति प्रदान की। पद्माकर न केवल अपनी प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध हुए, बल्कि अपने समय के सबसे अधिक सम्मानित और आश्रित कवि भी थे। उन्हें विभिन्न राजदरबारों से संरक्षा और सम्मान प्राप्त हुआ, जिनमें सागर के अप्पा साहब, जयपुर के महाराज जगत सिंह, और ग्वालियर के दौलतराव सिंधिया प्रमुख थे। इन सभी राजाओं के दरबार में उन्हें अत्यधिक आदर और प्रतिष्ठा मिली। उनके काव्य की लोकप्रियता और उनकी रचनाशक्ति ने उन्हें उस समय के कवि-समाज में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। पद्माकर की प्रमुख रचनाएँ हैं: **"पद्माभरण"**, **"जगद्विनोद" (1810 ईस्वी)**, **"गंगा लहरी"**, **"प्रबोध पचासा"**, और **"हिम्मत बहादुर विरुदावली"**। इन कृतियों में रीतिकाल की समस्त काव्य प्रवृत्तियाँ झलकती हैं, चाहे वह श्रृंगार रस की रमणीयता हो, अलंकारों की सजावट हो, या वीर रस और भक्ति का संतुलित प्रयोग। इनमें "जगद्विनोद" को पद्माकर की सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कृति माना जाता है। यह ग्रंथ श्रृंगार रस का एक अत्यंत विस्तृत और जीवंत विवेचन प्रस्तुत करता है। इसमें नायिका भेद, प्रेम की विभिन्न अवस्थाएँ, और रसात्मक अनुभूतियाँ इतनी सजीवता से चित्रित हैं कि पाठक को वह युग अपने समक्ष जीवंत प्रतीत होता है। इस ग्रंथ में पद्माकर ने न केवल श्रृंगार का रससिद्ध स्वरूप दिखाया, बल्कि नारी सौंदर्य, प्रेमालाप, और नायिका-नायक के मनोभावों का अत्यंत सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है।

"पद्माभरण" पद्माकर की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है, जो अलंकार शास्त्र से संबंधित है। यह ग्रंथ रीतिकालीन कवियों की उस परंपरा को आगे बढ़ाता है जिसमें भाषा की सौंदर्यात्मकता और शिल्प की परिपूर्णता का समन्वय किया जाता था। पद्माभरण में उन्होंने विभिन्न अलंकारों का निरूपण किया और यह दिखाया कि अलंकार केवल भाषिक सजावट नहीं हैं, बल्कि वे काव्य की आत्मा को प्रकाशित करने वाले उपकरण हैं। पद्माकर का यह दृष्टिकोण उन्हें केवल एक श्रृंगारिक कवि नहीं बल्कि एक सैद्धांतिक विचारक के रूप में भी प्रतिष्ठित करता है।

"गंगा लहरी" में पद्माकर ने भक्ति का एक कोमल और निर्मल स्वर प्रस्तुत किया है। यद्यपि वे रीतिकाल के कवि थे और उनके अधिकांश काव्य में श्रृंगार रस की प्रधानता रही, फिर भी "गंगा लहरी" में उनका भक्ति भाव और आस्था का सौंदर्य अद्भुत रूप

में उभरता है। इसमें गंगा के प्रति उनकी भक्ति, श्रद्धा और पवित्रता का भाव काव्यात्मक सौंदर्य के साथ गुंथा हुआ है। यह रचना यह सिद्ध करती है कि पद्माकर केवल श्रृंगार के कवि नहीं थे, बल्कि उनके भीतर अध्यात्म और संवेदना की गहरी अनुभूति भी विद्यमान थी। उनकी एक अन्य रचना "हिम्मत बहादुर विरुदावली" वीर रस की उत्कृष्ट कृति मानी जाती है। इस ग्रंथ में पद्माकर ने वीरता, साहस, और राजकीय गौरव का जीवंत चित्रण किया है। हिम्मत बहादुर जैसे शूरवीर के पराक्रम, युद्ध कौशल, और स्वाभिमान को उन्होंने इतने प्रभावी ढंग से व्यक्त किया है कि यह कृति रीतिकाल के वीर काव्य की श्रेष्ठ परंपरा में अपना स्थान बनाती है। इस प्रकार पद्माकर ने न केवल श्रृंगार बल्कि वीर रस को भी अपनी काव्य चेतना में समाहित किया।

पद्माकर का काव्य रीतिकाल की दरबारी संस्कृति और श्रृंगारी चेतना का चरम उत्कर्ष है। उस समय दरबारों में काव्य का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन और सौंदर्याभिव्यक्ति होता था। कवियों का कार्य न केवल राजा की प्रशंसा करना था, बल्कि दरबार की शालीनता और सौंदर्य दृष्टि को शब्दों में सजाना भी था। पद्माकर ने इस परंपरा को अत्यंत कौशलपूर्वक निभाया। उनके काव्य में दरबारी जीवन की समृद्धि, उत्सव, संगीत, नृत्य, और होली जैसे पर्वों की रंगीन छवियाँ बार-बार प्रकट होती हैं। उनके कवित्तों और सवैयों में जीवन की उल्लासपूर्ण लय और श्रृंगारिक चंचलता का ऐसा सम्मिलन मिलता है जो रीतिकाल की आत्मा को अभिव्यक्त करता है। उनकी कविताओं में विशेष रूप से होली के प्रसंग अत्यंत प्रसिद्ध हैं। जैसे *"फाग की भीर, अभीरन में गहि, गोविंद लै गई भीतर गोरी"* यह पंक्ति केवल एक दृश्य नहीं, बल्कि रंग, संगीत, और आनंद का उत्सव है। इसमें ब्रजभाषा की माधुर्यपूर्ण ध्वनियाँ, लय, और भाव इतने सजीव हैं कि पाठक के मन में एक होली का दृश्य मूर्तिमान हो उठता है। गोप-गोपियों के हँसी-ठिठोली भरे संवाद, अबीर-गुलाल की उड़ती धूल, और कृष्ण की लीला—ये सब पद्माकर के कवित्तों में जीवन्त रूप में प्रकट होते हैं।

पद्माकर की भाषा **ब्र**जभाषा है, और उन्होंने इसे ऐसी निपुणता से प्रयोग किया कि यह उनके काव्य की आत्मा बन गई। उनकी भाषा में न केवल मिठास है बल्कि प्रवाह और नाद-सौंदर्य की पराकाष्ठा भी है। उन्होंने लाक्षणिकता (संकेतात्मक अर्थ), चित्रात्मकता (दृश्य निर्माण की क्षमता), और गत्यात्मकता (लय और गति) का ऐसा अद्भुत मिश्रण

किया कि उनके काव्य में झंकार, माधुर्य और सौंदर्य एक साथ झिलमिलाते हैं। उनकी कविताएँ केवल पढ़ी नहीं जातीं, वे गाई और महसूस की जाती हैं। यही कारण है कि ब्रजभाषा पद्माकर के हाथों में केवल संवाद का माध्यम नहीं, बल्कि रस की अनुभूति का साधन बन गई। छंदों के प्रयोग में भी पद्माकर अत्यंत निपुण थे। उन्होंने सवैया, कवित्त, और छप्पय जैसे पारंपरिक छंदों का प्रयोग अद्वितीय कुशलता के साथ किया। उनके सवैये में भाषा का प्रवाह और भाव का सामंजस्य एक साथ मिलता है। उदाहरण के लिए, किसी नायिका के सौंदर्य वर्णन में वे शब्दों की ऐसी रंगीन बुनावट करते हैं कि पाठक को नायिका का रूप केवल दिखता ही नहीं, बल्कि वह उसके भावों और मुद्राओं को भी महसूस कर सकता है। यह चित्रात्मकता ही पद्माकर की काव्य शक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण है।

पद्माकर का काव्य केवल भावनाओं का संसार नहीं, बल्कि उसमें तर्क, दर्शन, और सौंदर्यशास्त्र का संतुलन भी है। वे श्रृंगार रस के कवि होने के बावजूद केवल बाह्य सौंदर्य तक सीमित नहीं रहते। उनके काव्य में प्रेम की गहराई, नारी की आत्मीयता, और भावनाओं की सूक्ष्मता भी झलकती है। वे प्रेम को केवल भौतिक आकर्षण नहीं, बल्कि मानवीय संबंधों के सौंदर्य के रूप में देखते हैं। उनकी नायिकाएँ केवल सौंदर्य की प्रतीक नहीं हैं, बल्कि वे जीवंत, संवेदनशील और भावनात्मक रूप से परिपूर्ण चरित्र हैं। उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग अत्यंत संतुलित और प्रभावशाली है। उन्होंने उपमा, रूपक, अनुप्रास, और श्लेष जैसे अलंकारों का प्रयोग केवल सजावट के लिए नहीं, बल्कि भाव को सघन और अर्थपूर्ण बनाने के लिए किया। उदाहरण के लिए, उनके वर्णनों में प्रकृति, ऋतु, और मनोभावों के बीच जो सामंजस्य दिखाई देता है, वह उनकी काव्य दृष्टि की गहराई को दर्शाता है।

पद्माकर का युग रीतिकाल का अंतिम चरण था। इस समय हिंदी काव्य में दरबारी जीवन की चकाचौंध, सौंदर्य की प्रशंसा, और श्रृंगार की मधुरता अपने चरम पर थी, परंतु साथ ही यह काल धीरे-धीरे आधुनिक चेतना की ओर भी अग्रसर हो रहा था। पद्माकर ने अपने काव्य में इस संक्रमण की आहट को भी महसूस किया। उनके काव्य में जहाँ एक ओर पारंपरिक श्रृंगार की परिपूर्णता है, वहीं दूसरी ओर भावनाओं की मानवीय गहराई भी दिखाई देती है। यह विशेषता उन्हें केवल रीतिकाल का समापन नहीं, बल्कि नवयुग की ओर संकेत करने वाला कवि बनाती है।

उनकी काव्य दृष्टि में सौंदर्य का आदर्शवादी रूप मिलता है। वे प्रकृति, नारी, और उत्सवों में सौंदर्य की झलक देखते हैं, किंतु उस सौंदर्य को आत्मानुभूति के स्तर तक ले जाते हैं। उनके लिए कविता केवल शब्दों का विन्यास नहीं, बल्कि एक जीवंत अनुभूति है जो पाठक के हृदय में रस की तरंगें उत्पन्न करती है। यही कारण है कि उनके काव्य में रस, भाव, और ध्वनि का त्रिवेणी संगम दिखाई देता है। पद्माकर का योगदान यह है कि उन्होंने रीतिकालीन काव्य परंपरा को उसकी पूर्णता तक पहुँचाया। उन्होंने श्रृंगार, अलंकार, वीर और भक्ति, सभी रसों को अपनी रचनाओं में समाहित किया और रीतिकाल की सौंदर्यपरक चेतना को एक भव्य समापन प्रदान किया। उनके बाद हिंदी साहित्य में आधुनिक युग का आरंभ होता है, जिसमें भावुकता की जगह यथार्थवाद और समाज-सापेक्ष दृष्टि का विकास हुआ। इस प्रकार पद्माकर उस ऐतिहासिक सेतु के कवि हैं जो रीतिकाल की भव्यता को आधुनिक चेतना की दिशा में अग्रसर करता है।

सार रूप में कहा जाए तो पद्माकर भट्ट केवल एक दरबारी कवि नहीं थे, बल्कि वे उस युग के सांस्कृतिक प्रतीक थे जिन्होंने काव्य के माध्यम से जीवन के सौंदर्य, प्रेम, भक्ति और वीरता सभी को शब्दों का अमर रूप दिया। उनकी ब्रजभाषा की माधुर्यता, छंदों की निपुणता, और भावों की गहराई उन्हें हिंदी साहित्य के अमर कवियों की श्रेणी में स्थापित करती है। उनके काव्य में रंग है, राग है, और रस की वह अनुभूति है जो युगों तक पाठकों के हृदय को स्पंदित करती रहेगी। पद्माकर ने रीतिकाल की परंपरा को जिस भव्यता और गरिमा के साथ समापन दिया, वह उन्हें हिंदी साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट और अनुपम स्थान प्रदान करता है।

इकाई 5.3: रीति काव्य की विशेषताएँ

5.3.1 अलंकार, रस, शैली

रीतिकालीन हिंदी काव्य में अलंकार, रस और शैली की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध और परिष्कृत रूप मिलता है। यह युग भाव सौंदर्य, शब्द सौंदर्य और कला सौंदर्य तीनों का अद्भुत संगम प्रस्तुत करता है। इस काल के कवि केवल भावनाओं का वर्णन करने वाले नहीं थे, बल्कि वे सौंदर्य के मर्मज्ञ कलाकार थे जो शब्दों में भावों की मूर्त आकृतियाँ रचते थे। केशवदास, बिहारी और रसखान जैसे कवियों ने अपनी रचनाओं में अलंकारों की चमत्कृति, रस की गहराई और शैली की विविधता से हिंदी काव्य को विशिष्ट ऊँचाई प्रदान की। इन तीनों कवियों ने रीतिकाल की तीन अलग-अलग धाराओं दरबारी, नीति एवं भक्ति को अपने-अपने काव्य के माध्यम से प्रतिष्ठित किया।

1. रीतिकालीन काव्य में अलंकार, रस और शैली का महत्व

रीतिकाल को "अलंकारिक युग" या "श्रृंगारिक युग" कहा जाता है। इस युग के कवि भाव की अपेक्षा रूप और सौंदर्य के अधिक अनुरागी थे। भाषा में माधुर्य, शब्दों में चमत्कार और भावों में कोमलता उनके काव्य की प्रमुख विशेषताएँ रहीं। अलंकारों के बिना इस युग का काव्य अधूरा प्रतीत होता है। कवि अपने काव्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अनुप्रास, अतिशयोक्ति आदि का प्रयोग करते थे। रस की दृष्टि से श्रृंगार रस इस युग का प्रधान रस माना गया है। प्रेम, सौंदर्य और मनोविज्ञान के सूक्ष्म स्वरूपों का चित्रण इन कवियों ने अत्यंत कौशलपूर्वक किया है। शैली की दृष्टि से रीतिकालीन कवि अपने शब्द-विन्यास और वाक्य-संरचना के लिए प्रसिद्ध हैं। दरबारी वर्णन, नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, सौंदर्य चित्रण आदि को उन्होंने ऐसी कलात्मकता दी कि उनका काव्य सजीव और नाटकीय बन उठा।

2. केशवदास का काव्यगत स्वरूप

केशवदास (1555–1617) रीतिकाल के आरंभिक और अत्यंत प्रभावशाली कवि माने जाते हैं। उन्होंने हिंदी में अलंकारिक परंपरा को स्थापित किया और संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को ब्रजभाषा में पिरोया। उनके प्रमुख ग्रंथ *रसिकप्रिया,*

कविप्रिया, रामचंद्रिका, वीररस, रतनावली काव्यशास्त्र और भावसौंदर्य दोनों के उदाहरण हैं।

(क) केशवदास के काव्य में अलंकार

केशवदास का काव्य अलंकारों का खजाना कहा जा सकता है। वे अनुप्रास, उपमा, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति जैसे अलंकारों का अत्यंत सुंदर प्रयोग करते हैं।

- **अनुप्रास अलंकार** उनके काव्य को संगीतात्मकता प्रदान करता है।

  जैसे—

  "ससि-समान मुख चंद्रिका छिटकावे, मधुर मुसुकि मुख तजत बिनु बाता।"

  इस पंक्ति में ध्वनि की लय और शब्दों का सामंजस्य संगीत की अनुभूति कराता है।

- **उपमा अलंकार** के प्रयोग से वे वस्तुओं का जीवंत रूप सामने रख देते हैं

  "कान्ह सरीर स्याम सुन्दर, ज्यों घन पर चमकैं बिजुरी।"

  यहाँ उपमा द्वारा सौंदर्य की तीव्रता का सजीव चित्र खिंच गया है।

- **श्लेष अलंकार** में केशवदास की दक्षता विलक्षण है। वे शब्दों के द्विअर्थी प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न करते हैं।
- **अतिशयोक्ति अलंकार** का प्रयोग वे राजदरबार, युद्ध या सौंदर्य वर्णन में प्रभाव उत्पन्न करने हेतु करते हैं।

(ख) केशवदास का रसबोध

केशवदास के काव्य में श्रृंगार रस की प्रधानता है। किंतु उन्होंने केवल लौकिक प्रेम का नहीं, बल्कि भक्ति और नीति का भी समावेश किया।

रसिकप्रिया में उन्होंने नायिका-भेद, नायक के गुण, प्रेम के प्रकार आदि का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण किया। उनके यहाँ श्रृंगार रस के दोनों रूप, संयोग और वियोग सुंदर ढंग से चित्रित हुए हैं।

उदाहरण के लिए—

"विरह विषम जसु बिषम न होइ, हिय हहराइ दई।"

यहाँ विरह की पीड़ा को अतिशयोक्ति और भावप्रधान शब्दों में व्यक्त किया गया है।

(ग) केशवदास की शैली

केशवदास की शैली **वर्णनात्मक** और **शास्त्रीय** है। वे दरबार की भव्यता, सजावट, नायिकाओं की साज-सज्जा, ऋतुओं और उत्सवों का वर्णन अत्यंत कलात्मक रूप में करते हैं। उनकी भाषा ब्रजभाषा होते हुए भी संस्कृत शब्दावली से युक्त है, जिससे काव्य में गौरव और गंभीरता आती है। उनकी शैली में संवाद और संनिवेश का विशेष महत्त्व है। इससे काव्य में नाटकीयता उत्पन्न होती है।

3. रसखान का काव्यगत स्वरूप

रसखान (ज. सन् 1558) रीतिकाल के प्रमुख भक्त कवि थे, जिन्होंने श्रृंगार और भक्ति दोनों रसों का अद्‌भुत संगम किया। उनका मूल नाम सय्यद इब्राहीम था, परंतु कृष्ण-भक्ति में लीन होकर वे "रसखान" कहलाए। उन्होंने ब्रजभाषा में कृष्ण के लीलामय जीवन का अत्यंत सजीव वर्णन किया।

(क) रसखान के काव्य में अलंकार

रसखान का काव्य अलंकारों से बोझिल नहीं, बल्कि भावप्रधान है। फिर भी उन्होंने स्थान-स्थान पर उपमा, रूपक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा और संदेह अलंकारों का सहज प्रयोग किया है।

उदाहरण—

"मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वालां।"

यहाँ रूपक के माध्यम से कवि ने अपनी आत्मा को गोपी और ग्वालों में विलीन कर देने की भावना व्यक्त की है। उनका अलंकार भाव की गहराई में घुला हुआ है, वह केवल शब्द का चमत्कार नहीं, बल्कि अर्थ का सौंदर्य है।

(ख) रसखान का रसबोध

रसखान के काव्य में **श्रृंगार रस** और **भक्ति रस** का अद्भुत संयोग मिलता है। उनके लिए कृष्ण केवल नायक नहीं, बल्कि ईश्वर हैं, और गोपी केवल नायिका नहीं, बल्कि आत्मा है जो परमात्मा से मिलन की आकांक्षा रखती है।

उनकी पंक्ति—

"धन्य-धन्य धरती वो ब्रज की, जहाँ लुटे ब्रजवासी गोविंद।"

इसमें श्रृंगार का माधुर्य और भक्ति की पवित्रता दोनों एक साथ प्रवाहित होते हैं।

उनके काव्य में *माधुर्य भक्ति* के माध्यम से प्रेम का दिव्य रूप सामने आता है। रसखान के गोपी-संवादों में प्रेम की तीव्रता और आत्मा की तृष्णा दोनों अभिव्यक्त होती हैं।

(ग) रसखान की शैली

रसखान की भाषा **सरल, सहज, और लयात्मक** है। उन्होंने ब्रजभाषा का इतना मधुर प्रयोग किया कि उसमें एक प्रकार का संगीतात्मक प्रवाह है। उनकी शैली में भाव की कोमलता, शब्दों की मिठास और वाक्य की लघुता का सुंदर संतुलन है। वे जटिल उपमानों या अलंकारों से दूर रहते हुए सीधे हृदय को स्पर्श करने वाले शब्दों का चयन करते हैं। उनके काव्य में प्रकृति और प्रेम का ऐसा सहज वर्णन है जो सीधे भाव-जगत में उतर जाता है।

3. बिहारी का काव्यगत स्वरूप

बिहारीलाल (1595–1663) रीतिकाल के श्रेष्ठतम कवियों में माने जाते हैं। उनकी रचना *सतसई* हिंदी काव्य की अमूल्य निधि है। इस ग्रंथ में लगभग सात सौ दोहे हैं, जिनमें श्रृंगार, नीति, भक्ति और समाज जीवन के विविध पक्षों का अत्यंत सूक्ष्म चित्रण हुआ है।

(क) बिहारी के काव्य में अलंकार

बिहारी का प्रत्येक दोहा अलंकारिक सौंदर्य से परिपूर्ण है। वे अलंकारों के प्रयोग में इतने दक्ष हैं कि लघु आकार के दोहे में भी व्यापक अर्थ और सौंदर्य भर देते हैं। उनके काव्य में उपमा, रूपक, संदेह, श्लेष, विरोधाभास और अर्थालंकारों का सुंदर समावेश है।

उदाहरण—

"नैननैं हीं सौं बाण चलत हैं, करनैं हीं सौं ढाल।
बिहारी सौं सखा कह्यो, ई प्रेम को झगड़ाल।"

यहाँ *संदेह* और *रूपक* दोनों अलंकारों का प्रयोग हुआ है, जिससे भाव का चमत्कार प्रकट होता है। उनके दोहे में प्रत्येक शब्द गढ़ा हुआ प्रतीत होता है। अलंकार उनके लिए केवल सजावट नहीं, बल्कि भाव की आत्मा है।

(ख) बिहारी का रसबोध

बिहारी के काव्य में **श्रृंगार रस** की प्रधानता है। उनके अधिकांश दोहे नायक-नायिका के प्रेम, वियोग और संयोग के भावों को प्रकट करते हैं। परंतु उन्होंने केवल शारीरिक प्रेम का नहीं, बल्कि **मन के सूक्ष्म भावों** का चित्रण किया। उनके दोहे प्रेम की गहराई, नारी-मन की नजाकत और पुरुष के भावविवेक को शब्द देते हैं।

उदाहरण—

"निसदिन बरषत नैन सों, पल भरि न ठहराय।
बिहारी दरस बिनु, दुख की धारा बहि जाय।"

यहाँ वियोग की पीड़ा का गहन चित्र है, जिसमें श्रृंगार और करुण रस दोनों का संगम है।

(ग) बिहारी की शैली

बिहारी की शैली सूक्ष्म, गूढ़ और अर्थगर्भित है। वे दोहे जैसे छोटे आकार में इतने गहरे अर्थ समेट देते हैं कि वह अनेक व्याख्याओं का अवसर देता है। उनकी शैली में संक्षिप्तता और सघनता है। उनकी भाषा परिष्कृत ब्रजभाषा है, जिसमें संस्कृत और फारसी शब्दों का समन्वय मिलता है। उनकी नीति-संबंधी रचनाओं में गंभीरता और गरिमा है, जबकि श्रृंगार दोहों में कोमलता और नजाकत। उनके काव्य में लोकसाधुता और पांडित्य का अनूठा मिश्रण दिखाई देता है।

5. तीनों कवियों की शैलीगत तुलना

केशवदास, रसखान और बिहारी तीनों रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि हैं, किंतु तीनों की काव्य-शैली भिन्न है।

- **केशवदास** की शैली शास्त्रीय और अलंकारिक है। वे दरबार और संस्कृति के कवि हैं। उनके यहाँ विस्तार, वर्णन और भव्यता है।
- **रसखान** की शैली भावप्रधान और सरल है। उनके यहाँ भाषा सहज प्रवाह में बहती है, और भक्ति-श्रृंगार का समन्वय हृदय को स्पर्श करता है।
- **बिहारी** की शैली संक्षिप्त और मर्मस्पर्शी है। वे सूक्तिकार हैं, जो थोड़े में बहुत कह जाते हैं।

इन तीनों की शैली भले ही अलग हो, परंतु तीनों में शब्द और भाव का सौंदर्य एक समान दृष्टिगोचर होता है।

6. रीतिकालीन काव्य में रस की विविधता

रीतिकाल को यदि "रस का युग" कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस युग के कवियों ने श्रृंगार रस के साथ-साथ भक्ति, करुण, हास्य और वीर रसों का भी चित्रण किया।

- **केशवदास** ने प्रेम-श्रृंगार को शास्त्रीय दृष्टि से परिभाषित किया। उनके रस-विचार में सौंदर्य और नीति दोनों की झलक मिलती है।
- **रसखान** ने श्रृंगार में भक्ति का समावेश किया, जिससे रस की दिव्यता बढ़ गई।
- **बिहारी** ने श्रृंगार रस को मानव मन की गहराइयों तक पहुँचाया, और वियोग के माध्यम से प्रेम की पराकाष्ठा दिखाई।

इन तीनों कवियों के यहाँ श्रृंगार रस का सौंदर्य अलग-अलग रूपों में व्यक्त हुआ है केशवदास के यहाँ राजसी, रसखान के यहाँ भक्ति-संवेदनशील, और बिहारी के यहाँ मनोवैज्ञानिक।

7. अलंकार और शैली का समन्वय

रीतिकालीन काव्य में अलंकार और शैली का संबंध आत्मा और शरीर के समान है। केशवदास के यहाँ अलंकार भाषा को गंभीरता देते हैं, बिहारी के यहाँ अर्थ को गहराई देते हैं, और रसखान के यहाँ भाव को कोमलता देते हैं। तीनों कवियों ने शब्द और अर्थ के संतुलन से ऐसी शैली विकसित की, जो न केवल कलात्मक बल्कि भावनात्मक रूप से भी परिपूर्ण है। केशवदास की वर्णनात्मक शैली, रसखान की भावमयी शैली, और बिहारी की सूक्तिपूर्ण शैली तीनों मिलकर रीतिकालीन काव्य की त्रिवेणी बनाती हैं।

अलंकार, रस और शैली ये तीनों किसी भी काव्य की आत्मा हैं। रीतिकालीन कवियों ने इन तीनों को अपनी रचनाओं में सर्वोच्च स्थान दिया। केशवदास ने अलंकारों से शब्द-सौंदर्य रचा, रसखान ने भक्ति से भाव-सौंदर्य गढ़ा, और बिहारी ने सूक्तियों से अर्थ-सौंदर्य रचा। तीनों कवियों की रचनाएँ रीतिकाल के आदर्श प्रतिमान हैं, जो यह सिद्ध करती हैं कि हिंदी काव्य केवल भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि एक कला है जिसमें भाषा, भाव और बोध का समन्वय होता है। इस प्रकार, केशवदास की शास्त्रीयता, रसखान की भक्ति-प्रवणता और बिहारी की सूक्तिपूर्णता तीनों मिलकर हिंदी साहित्य के रीतिकाल को अनुपम बनाती हैं। उनके काव्य में अलंकारों की कलात्मकता, रस की गहराई और शैली की विविधता ने न केवल उस युग को अमर बनाया, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए काव्य के आदर्श सिद्धांतों को भी स्थापित किया।

5.4 स्व-मूल्यांकन प्रश्न

5.4.1 बहुविकल्पीय प्रश्न

1. रीतिकाल की समय सीमा है:

क) 1000 ई. से 1375 ई.

ख) 1375 ई. से 1700 ई.

ग) 1700 ई. से 1900 ई.

घ) 1900 ई. से अब तक

2. रीतिकाल का नामकरण किसने किया?

क) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

ख) हजारी प्रसाद द्विवेदी

ग) नगेंद्र

घ) रामविलास शर्मा

3. 'बिहारी सतसई' के रचयिता कौन हैं?

क) केशवदास

ख) बिहारी

ग) देव

घ) पद्माकर

4. रीतिबद्ध काव्य के प्रमुख कवि हैं:

क) बिहारी

ख) केशवदास

ग) घनानंद

घ) आलम

5. रीतिमुक्त काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं:

क) केशवदास

ख) बिहारी

ग) घनानंद

घ) देव

6. रीतिकाल में किस भाषा का प्रयोग हुआ?

क) अवधी

ख) ब्रज भाषा

ग) खड़ी बोली

घ) मैथिली

7. रीतिकाल में किस रस की प्रधानता थी?

क) वीर रस

ख) श्रृंगार रस

ग) करुण रस

घ) शांत रस

8. 'रसिकप्रिया' के रचयिता कौन हैं?

क) बिहारी

ख) केशवदास

ग) देव

घ) भूषण

9. वीर रस के प्रमुख कवि हैं:

क) बिहारी

ख) भूषण

ग) केशवदास

घ) घनानंद

10. रीतिकाल को और किस नाम से जाना जाता है?

क) भक्तिकाल

ख) श्रृंगारकाल

ग) वीरगाथाकाल

घ) आधुनिक काल

5.4.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिकाल के उद्भव के कारण बताइए।
2. रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्य में अंतर स्पष्ट कीजिए।

3. बिहारी सतसई की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
4. रीतिकाल में दरबारी संस्कृति का प्रभाव समझाइए।
5. रीति काव्य की भाषागत विशेषताएँ बताइए।

5.4.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिकाल के उद्भव के सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. रीतिकाल के प्रमुख कवियों और उनकी काव्यधाराओं का परिचय दीजिए।
3. रीति काव्य की सामान्य विशेषताओं का विस्तृत विवेचन कीजिए।
4. बिहारी की 'बिहारी सतसई' की काव्य-कला और विशेषताओं पर विस्तृत निबंध लिखिए।
5. दरबारी संस्कृति का रीतिकालीन साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा? विस्तार से समझाइए।

उत्तर-कुंजी :

ग) 1700 ई. से 1900 ई.

क) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

ख) बिहारी

ख) केशवदास

ग) घनानंद

ख) ब्रज भाषा

ख) श्रृंगार रस

ख) केशवदास

ख) भूषण

ख) श्रृंगारकाल

संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल (1940) — हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
2. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी (1952) — हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. डॉ. नगेंद्र (1960) — हिन्दी साहित्य का विकास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
4. डॉ. रामविलास शर्मा (1962) — हिन्दी साहित्य और समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. डॉ. नामवर सिंह (1965) — कविता के नये प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (1968) — कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. डॉ. रामचन्द्र शुक्ल (1910) — रस मीमांसा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
8. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (1975) — हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, साहित्य भवन, आगरा।
9. डॉ. नगेन्द्र (1971) — हिन्दी साहित्य के युग और प्रवृत्तियाँ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
10. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी (1980) — इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. डॉ. श्यामसुंदर दास (1930) — हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
12. मिश्रबंधु (1910) — हिन्दी साहित्य का इतिहास, मिश्रबंधु पुस्तक माला, कानपुर।
13. डॉ. नागेन्द्र (1982) — हिन्दी साहित्य का भावात्मक इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

14. डॉ. नवलकिशोर (1985) — हिन्दी साहित्य: स्वरूप और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
15. डॉ. गोपाल राय (1990) — हिन्दी साहित्य का सामाजिक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
16. डॉ. परमानंद श्रीवास्तव (1995) — हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इतिहास लेखन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
17. डॉ. हरिशंकर परसाई (1988) — साहित्य का समाजशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
18. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी (2000) — कविता का इतिहास, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
19. डॉ. शंभुनाथ (2005) — हिन्दी साहित्य: परंपरा और आधुनिकता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
20. डॉ. विजयदेव नारायण साही (2008) — साहित्य और समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

MATS UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS: Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 **Toll Free ODL MODE :** 81520 79999, 81520 29999

Website: www.matsodl.com